प्रस्तावना.

विक्रम संवत १६७९ में, खरतर गच्छके सूरचंद्र नामक एक विद्वान् ने, संस्कृत पद्यों में 'जैन तत्त्वसार' नाम की पुस्तक लिखी है। इस पुस्तकको थोडे वर्ष पहिले 'श्री जैन आत्मानंद सभा—भावनगर' ने गुजराती अनुवाद सहित प्रकट किया है। पुस्तकमें के विचार साधारण बुद्धिवाले और अल्पाभ्यासी जैनों के लिये उपकारक जान कर मेरे मनमें इसका हिंदी-भावार्थ लिखने का कुछ विचार हो आया। कारण यह है कि, श्वेतांबर जैन संप्रदाय के हिंदी भाषा-भाषी अनुयायियों के लिये-जिन की संख्या गुजरातीयों की अपेक्षा अत्यधिक होने पर भी-पढने पढाने योग्य पुस्तकें की बहुत ही कमी है-अभाव ही सा है। केवल परमोपकारी श्रीमद् विजयानंदसूरि (आत्मारामजी) महाराज के बनाये हुए जैन-तत्त्वादर्श आदि उपकारी ग्रंथ ही इनके लिए जीवनाधार हैं। ऐसी

दशामें इनके लिए हिन्दी की पुस्तकोंकी बहुत ही आवश्यकता है। हर्षका विषय है कि पंजाब और मध्यप्रांतके कुछ उत्साही भाईयोंकी प्रवृत्ति इस कार्य तर्फ शुरू हुई है। दिल्लीका आत्मानंद-पुस्तक-प्रचारक-मंडल, उपयोगी और आवश्यक पुस्तकें प्रकट करने लगा है। धर्म प्रेमी और सखी गृहस्थोंका कर्तव्य है कि वे इस मंडलको द्रव्य-द्वारा सहायता दे कर अपनी संतान और साधर्मीवंधुओं को, परम-पवित्र जैन धर्म का विशेष ज्ञान करा कर, सुकृत उपार्जन करें।

इस भावार्थ को लिखने का कुछ विचार तो मेरा प्रथम था ही इतने में श्रद्धास्पद परमपूज्य श्रीमान् हंसविजयजी महाराज की विशेष प्रेरणा हुई। अतः उनकी आज्ञाका पालन कर यह छोटीसी पुस्तक पाठकोंके सम्मुख उपस्थित की जाती है। इसकी भाषा जान कर ही मध्यम प्रकार की हिन्दी रक्खी गई है। क्यों कि पाठक लोक राज-पूताना, पंजाब, गुजरात और मध्यप्रांत आदि भिन्न-भिन्न भाषा-भाषक प्रांतों में रहते हैं इस लिये सबकी समझ में आजावे ऐसी भाषा का होना आवश्यक है। इस से विशुद्ध-हिन्दी-लेखकों की दृष्टि में कोई वाक्य स्खलितसा नजर आवें तो आशा है कि उपेक्षा करेंगे।

इस पुस्तकके छपानेका खर्च, श्रीमान् हंसविजयजी महाराज के सुशिष्य पंन्यास श्रीमान् संपद्विजयजी गणि के सदुपदेशसे, पाल्हनपुर

निवासी शेठ चालुभाई लवजी मेहताने अपने पुत्र भभुतमल्ल की वधू बाई—भूरि: के पुण्यार्थ दिया है इस लिए पाठकोंकी ओरसे वे धन्य-वाद के पात्र हैं। आशा है कि, इस उदाहरण को ध्यानमें रख कर अन्यान्य श्रावक—श्राविकायें भी अपने द्रव्यका इस प्रकार सदुपयोग कर सम्यग् ज्ञानका आराधन करेंगे। शमस्तु।

जैन उपाश्रय
पाटण.

—मुनि जिनविजय।

अनुक्रमणिका ।

ॐ

अर्हम्.

श्रीमद्विजयानन्दसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमः ।

जैनतत्त्वसार ।

प्रथम-अधिकार ।

आत्मा और कर्मका स्वरूप ।

संशुद्धसिद्धान्तमधीशमिद्धं
श्रीवर्द्धमानं प्रणिपत्य सत्यम् ।
कर्मात्मपृच्छोत्तरदानपूर्वं
किञ्चिद्विचारं स्वविदे समूहे ॥

जिसका सिद्धान्त संशुद्ध—पूर्वापर विरोधादि दोष रहित—है, जो ज्ञानादि अतिशयों से पूर्ण प्रकाश युक्त है, ऐसे श्री वर्द्धमान (महावीर) तीर्थंकरको प्रणाम कर, स्व-आत्माको बोध करनेके लिए आत्मा और कर्म संबंधी कुछ विचार प्रदर्शित करता हूं।

प्रश्न—आत्मा कैसा है ?

उत्तर—आत्मा नित्य, विभु चेतनावान् और अरूपी है।

देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरकादि अवस्थाओंमें पर्यायका परिवर्तन होनेसे, पर्यायकी अपेक्षा आत्माको अनित्य भी कह सकते हैं, परंतु द्रव्यकी अपेक्षासे आत्मा नित्यही है। क्यों कि अवस्थान्तरोंमें भी जीवत्व—आत्मत्व द्रव्य तो वही है।

यों तो सामान्यतः आत्मा स्व शरीर ही में रहता है; परंतु सर्वत्र व्याप्त होनेकी शक्ति—(जो केवलि—समुद्घातादिके समय प्रकट होती है) रखने से विभु अर्थात् व्यापक कहलाता है।

चेतना, जो सामान्य और विशेष (ज्ञान और दर्शन) उपयोगस्वरूप है; वह स्व स्व आवरणों—ज्ञानादि गुणोंको आच्छादित करने वाले कर्मों—के क्षयादिकसे, न्यूनाधिक सब जीवोंको होती है, इस लिए आत्मा चेतनावान् है।

रूप अर्थात् आत्माका कोई रंग या आकार (आकृति) न होनेसे वह अरूपी है।

[नोट—जैनशास्त्रोंमें आत्माका लक्षण अन्य प्रकारसे भी लिखा है। यथा—

यः कर्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च।
संसर्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षणः॥

अर्थ—जो मिथ्यात्वादि कलुषित परिणामों द्वारा सुख-दुःखादि अनुभवोंको देने वाले कर्मोंको उपार्जन करता है, अर्जित किए हुए कर्मोंके फलको भोगता है, कर्मके विपाकोदयसे नरकादि गतियोंमें फिरता है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रके अभ्याससे संपूर्ण कर्मोंका नाश कर मुक्तावस्थाको भी प्राप्त कर सकता है, वही आत्मा है; अन्य लक्षण वाला नहीं।]

प्रश्न—कर्म कैसे हैं ?

उत्तर—कर्म जड, रूपी और पुद्गल हैं।

सामान्य और विशेष उपयोग स्वरूप चेतना न होनेसे कर्म जड है। रूप अर्थात् आकार युक्त होनेसे कर्म रूपी हैं। पूरण (पुष्ट होना) और गलन (क्षीण होना) स्वभाव वाले होनेसे कर्म पुद्गल हैं। तथा वर्ण, गंध, रस और स्पर्श युक्त होनेसे भी कर्म पुद्गल कहलाते हैं।

इस जगत्में जीव अनंत है। मुक्त और अमुक्त-सिद्ध और संसारी-इस प्रकार उनके दो भेद हैं। जो जीव संपूर्ण कर्मोंसे रहित हैं वे मुक्त कहलाते हैं। जो कर्म सहित हैं वे अमुक्त कहे जाते हैं।

मुक्त–संसारी जीवोंकी भिन्न भिन्न जातिएं हैं । जो जीव पृथ्वी[1], पाणी (अप्), अग्नि (तेजस्), वायु और वनस्पति रूप शरीर (काया) में रहते हैं और जो केवल एक स्पर्श इन्द्रियका ही विषय ग्रहण कर सकते हैं, वे एकेन्द्रिय जाति वाले कहे जाते हैं । चलने फिरने वाले प्राणियोंमें से, जो कृमि आदि जातिके प्राणी हैं वे द्वीन्द्रिय कहलाते हैं, क्यों कि इस जातिके जीव स्पर्श और रसन (जीह्वा) इन दो ही इन्द्रियोंके विषयको ग्रहण कर सकते हैं । कीड़ी (चूंटी), मकोड़ा, जूं, मांकड़, वगेरह जातिके जीव, स्पर्श, रसन और घ्राण (नासिका) इन तीन इन्द्रियों वाले होनेसे वे त्रीन्द्रीय कहलाते हैं । भ्रमर, मच्छर, वींछु इत्यादि जातिके प्राणियोंको, उपर्युक्त तीन (स्पर्शन रसन और घ्राण) इन्द्रियोंके सिवाय चतुर्थ चक्षु (नेत्र) इन्द्रिय भी है अतः इस प्रकारके प्राणी चतुरिन्द्रिय कहे जाते हैं । जिन प्राणियोंको, स्पर्श, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रवण (कान) ये पांच इन्द्रियां है वे जीव पंचेन्द्रिय जातिमें गिने जाते हैं । देव, मनुष्य, नारक और पशु–पक्षी आदि तिर्यंच; ये सब इसी जातिके जीव हैं ।

एकेन्द्रिय जातिके जीवोंमें से जो वनस्पतिकायमें रहने वाले हैं, उनके दो प्रकार हैं । एक प्रत्येक और दूसरा साधारण । जिस शरीरमें एक ही जीव रहता हो, अर्थात् प्रत्येक आत्माका भिन्न

१ पृथ्वी वनस्पति आदि पदार्थोंमें विज्ञान वेत्ताओं ने, चेतना शक्ति अच्छी तरह सिद्ध की है ।

भिन्न शरीर हों उसे प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। वृक्ष, लता, फल, फूल इत्यादि इसी प्रत्येक जातिमें गिने जाते हैं। साधारण वनस्पति उसे कहते हैं, जो एक ही शरीरमें अनंत जीव समूह रहता हों। कंदमूल वगेरहकी गणना इसी साधारण जातिकी वनस्पतिमें है। साधारण वनस्पतिको 'अनंतकाय' या 'निगोद' भी कहते हैं।

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और साधारण नामक वनस्पतिकाय (निगोद) इन सबके, सूक्ष्म और बादर इस प्रकार दो दो भेद हैं। इसमें जो सूक्ष्म-प्रकार वाले जीव हैं वे समग्र लोकाकाश (अखिल विश्व) में व्याप्त हैं। उनको अल्पज्ञ मनुष्य अपने चर्म--चक्षु द्वारा नहीं देख सकते। बादर प्रकार वाले पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकायके जीवोंके असंख्य शरीरोंका, तथा बादर निगोदके अनंत शरीरोंका समुदाय-पिंड ही मनुष्यको दृष्टिगोचर हो सकता है। परंतु प्रत्येक प्रकार वाले जो वनस्पतिकायिक जीव हैं, उनका शरीर यदि स्थूल हुआ तो वह अकेला भी मनुष्योंको दिखाई दे सकता है, और जो सूक्ष्म (सूक्ष्म प्रकार वाला नहीं किंतु मनुष्य दृष्टिकी अपेक्षा सूक्ष्म) हुआ तो, अनेक या असंख्य शरीरोंका बना हुआ समूह ही नजर आ सकता है, अन्यथा नहीं। इन सब प्रकारके-सूक्ष्म और बादर-जीवोंको सर्वज्ञ परमात्मा अपनी ज्ञान-दृष्टिसे, हस्तामलकवत् देखते हैं।

जीवोंकी अपेक्षा कर्मोंकी संख्या अनन्तगुणा अधिक है। वे सब समग्र लोकाकाश (अखिल ब्रह्माण्ड) में, रुव्वीमें ठूंस कर भरे हुए अंजन (काजल) की तरह, व्याप्त हैं। अधिक क्या, जीवके एक एक प्रदेशमें (जैन शास्त्रोंमें जीवको असंख्य प्रदेशात्मक माना है) शुभाशुभ कर्मोंकी अनंत वर्गणाएँ–कर्मस्वरूप पुद्गल राशिएँ–रही हुई हैं। जिस तरह खानमें रहा हुआ सुना–चांदि मिट्टीसे व्याप्त–ढंका हुआ–रहता है उसी प्रकार संसारी जीव, संपूर्ण लोकाकाशमें ठंस कर भरे हुए कर्मोंसे व्याप्त–ढंका हुआ–है।

प्रश्न—भिन्न जाति–स्वभाववाले कर्मोंका और आत्माका संयोग–संबंध–कैसे हुआ ? क्यों कि कर्म तो जड, रूपी और पुद्गल हैं, आत्मा चेतनावान् और अरूपी–अमूर्त–है।

उत्तर—कर्म और आत्माका संयोग–संबंध–अनादि सिद्ध है। जिस तरह खानमें रहे हुए सुवर्ण और मृत्तिकाका, अरणि–काष्ठ और उसमें रहे हुए अग्निका, तिलोंमे तैलका और दूधमें घीका संयोग, इन पदार्थोंके साथ ही–एक ही कालमें–उत्पन्न होता है, चंद्रकांत–मणिमें अमृतका (जलका) और सूर्यकांत–मणिमें अग्निका मेल भी सदा हीसे है, उसी प्रकार जीव और कर्मका संबंध भी सदा हीसे–अनादि काल सिद्ध–है। जैसें, खानमें पहले सुनाऔर पीछे मिट्टी, या पहले मिट्टी और पीछे सुना उत्पन्न हुआ, ऐसा व्यवहार और भेद नहीं कर सकते; वैसे पहले आत्मा

था और पीछे उसके साथ कर्म लग गये, अथवा; पहले कर्म उत्पन्न हुए और पीछेसे आत्माने उनको ग्रहण कर लिया; ऐसा व्यवहार और भेद भी नहीं कर सकते। दोनों-जीव और कर्मों-का संबंध अनादि सिद्ध है।

योग्य सामग्री-साधन-के मिलने पर, जिस तरह सुना मिट्टीसे अलग हो सकता है, मिट्टी और सुनाका संबंध टूट सकता है, और दूधमेंसे घी जुदा हो सकता है, उसी तरह, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप योग्य साधनों द्वारा, आत्मा भी कर्म-रूप मलसे मुक्त हो सकता है। अनादि-संबंध होने पर भी कर्म और आत्मा जुदा जुदा हो सकते हैं।

२—द्वितीय-अधिकार।

जीवका कर्म ग्रहण करनेका स्वभाव है।

जीव भी अनादि है कर्म भी अनादि है, तथा जीव और कर्मका संयोग-संबंध-भी अनादि है; यह बात पहले अधिकारमें बताई गई है। जीव और कर्मका अनादि संबंध होने पर भी, समय समय पर जीव पुराने कर्मोंका त्याग और नये कर्मोंका ग्रहण करता है, यह बात इस अधिकारमें कही जाती है।

प्रश्न—कर्म जड़ स्वरूप है इससे वे स्वयं कीसी अन्य वस्तुका आश्रय नहीं ले सकते। अपने आप जाकर वे कीसी आत्माको लग नहीं सकते।

आत्मा बुद्ध (चेतनावान्=ज्ञानवान्) है, इससे सुखकी चाहसे तो वह, जानता हुआ भी सुख देने वाले शुभ-कर्मोंको ग्रहण कर सकता है, परंतु, दुःखका तो वह (आत्मा) स्वभाव ही से द्वेषी है। दुःख तो अज्ञानी प्राणी भी नहीं चाहता। ऐसी हालतमें, आत्मा जानता हुआ अशुभ कर्मोंका ग्रहण कैसे कर सकता

है ? बुद्धिमान् और स्वतंत्र ऐसा कौन मनुष्य जान बूझ कर दुःख देने वाली चीजको हाथमें लें ?

उत्तर—जीवके शुभाशुभ कर्म ग्रहण करनेमें कितनेक कारण हैं। उन कारणों द्वारा प्रेरित होकर जीव शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके कर्मोंको ग्रहण करता है। वे कारण पांच हैं। प्रथम कारण 'काल' है, जिस वखत जो बनना होता है वह अवश्य बनता है, इस नियमाअनुसार जिस समय जीवको जैसे कर्मोंका ग्रहण करना निर्माण हुआ हो, उस समय वैसे कर्म ग्रहण करने ही पडते हैं। दूसरा कारण 'स्वभाव' है, जीवका कर्म ग्रहण करनेका स्वभाव ही है, इस लिये जैसे कर्म-समूह उसके सम्मुख उपस्थित होते हैं, वैसोंका वह ग्रहण कर लेता है। तीसरा कारण 'नियति' है-जिसको भवितव्यता भी कहते हैं-जो कुछ भावी-भाव होता है वह अवश्य ही बनता है, अतः भवितव्यता के वश हो कर जीव शुभाशुभ कर्मोंको ग्रहण कर लेता है। चौथा कारण 'पूर्वकृत' है, जीवने पूर्व भवमें जैसा कर्म किया हो उसीके फलानुसार आगामी जन्ममें उसकी प्रवृत्ति होती है। पांचवा कारण 'पुरुषाकार' याने उद्यम है, जीव जिस प्रकारका प्रयत्न करता है उसी प्रकारका उसे कर्मका बंध या मोक्ष होता है। जीवके कर्म ग्रहण करनेमें यही ५ हेतु (कारण) हैं। इन हेतुओंके वश हो कर जिस प्रकार शुभ-सुख देने वाले-कर्मोंका बंध करता है उसी प्रकार अशुभ-दुःख देने वाले-कर्मोंका भी बंध करता है।

इस पर कुछ उदाहरण भी दिये जाते हैं—

जैसे, कोई स्वतंत्र मनुष्य श्रीमंत होकर भी, इच्छाके वश होकर लड्डु बरफी जेसा उत्तम भोजन छोड़ कर जानता हुआ भी, चने वगेरह तुच्छ पदार्थोंका भक्षण करता है। कोइ मुसाफर इष्ट स्थानपर जल्दी पहुंचनेके लिये अच्छे रस्तेको छोड़ कर, जानता हुआ भी विषम मार्गकी तरफ जाता है। चौर, व्यभिचारी (परस्त्री लंपट), व्यापारी, और ब्राह्मणादि मनुष्य भी तथा प्रकारकी भाविभावकी प्रबल प्रेरणासे प्रेरित होकर, जान बूझ कर भी, बुरे कामोंको करते हैं। भिक्षुक तथा योगी वगेरह लूखी सूकी भिक्षाको—जेसी मीली हों वैसीको—जानते हुए भी खा लेते हैं। रोगी (बिमार) मनुष्य, अपने रोगका नाश चाहता हुआ और अपथ्यसे उत्पन्न होने वाले कष्टके स्वरूपको समझता हुआ भी, इच्छाके वश हो कर अपथ्य पदार्थका सेवन करता है; वैसे, जीव भी, उपर कहे हुए इन ५ कारणोंके निमित्तसे शुभाशुभ कर्मोंका ग्रहण करता है।

अजानपनेमें भी जीवका कर्म ग्रहण करनेका स्वभाव है। जिस तरह लोह--चुंबक पत्थर, नजदीकमें पड़ा हुआ अच्छा या खराब चाहे जैसा लोहा हों; उसको, अगर बीचमें कीसी प्रकारका व्यवधान न हों तो, अपने पास खींच लेता हैं, उसी तरह समीपमें रहे हुए शुभाशुभ--कर्म पुद्गलोंको कालादिकी प्रेरणासे प्रेरित हो कर जीव, अजान पने भी, ग्रहण कर लेता है।

३—तृतीय-अधिकार ।

अमूर्त आत्मा मूर्त कर्मोंको ग्रहण कर सकता है ।

प्रश्न—जीव स्वयं अरूपी-अमूर्त है, तो फिर इन्द्रिय और हस्त-पाद वगेरहकी सहाय विना कर्मोंका ग्रहण किनके द्वारा कर सकता है ? जब कीसी मनुष्यको कोइ चीज लेनी देनी पमती है तो पहले उस चीजको देख जान कर, पीछे हाथ वगेरहसे, उसे लेता देता है, आत्माकी अवस्था वैसी न होनेसे, वह कर्मोंको ग्रहण करता है यह कैसे माना जाय ?

उत्तर—जगत्कर्त्ता-यह जगत् ईश्वरने बनाया है, ऐसा-मानने वाले जिस तरह ईश्वरको निरिन्द्रिय और निराकार मानकर जी, अपनी अगम्य शक्तिद्वारा वह जक्तोंको देखता है, प्रार्थनादि सुनता है, पूजादिका स्वीकार करता है और जक्तजनोंके पापोंका नाश कर, उनका उद्धार करता है; इत्यादि कामोंका करने वाला मानते हैं, तो उसी तरह, अमूर्त और अरूपी आत्माको जी अपने अपूर्व सामर्थ्य और स्व-

भावसे, इन्द्रियादिकी सहायता विना ही, भविष्य कालमें भोगने लायक कर्मोंको ग्रहण कर लेने वाला, मान लेना चाहिये।

तथा, और भी कितने ही दृष्टांत इस बात पर दिये जा सकते हैं, जैसे कि—

औषधिके प्रयोगसे सिद्ध की हुइ पारेकी गोली, हस्तादिके न होने पर भी, दुग्धका पान करती है। शीसेका अथवा पानीका शोषण करती है। शब्द–वेध करनेकी शक्ति देती है, तथा वीर्यकी भी वृद्धि करती है! जो जडभूत पारा भी, इन्द्रिय वगेरहकी सहाय विना ऐसे ऐसे कार्य कर सकता है तो फिर आत्मा जैसा अचिंत्य शक्ति धारक पदार्थ क्या नहीं कर सकता? वृक्षादि भी हस्त–पादादि शून्य हो कर आहारका ग्रहण करते हैं। नालियर प्रमुखके मूलमें पानी डालने पर, उसके फल तकमें वह (पानी) पहुंच जाता है; यह प्रत्यक्ष है। इतना ही नहीं, प्रायः सब वस्तुएं अपने आप पानी ग्रहण कर गीली बनतीं हैं। जो ऐसा कहा जाय कि–"यह तो पानिकी शक्ति है जो अन्य वस्तुका भेदन कर उसके अंदर दाखल हो जाता है" तो यह बात संगत नहीं होती क्यों कि इसमें व्यभिचार (बाध) आता है। मुद्गशिला (एक प्रकारका अति कठिन पाषाण होता है) और करडू–कण (मुंगादि अनाजमें कोई कोई दाना इस किसमका आता है जो कभी नहीं रंधा जाता) पानीसे कभी भी नहीं भेदे जाते! जिसका स्वभाव, जो वस्तु ग्रहण करनेका हो वही उस वस्तुको ग्रहण कर

सकता है; अन्य नहीं । लोह-चुंबकका यही स्वभाव है कि वह अन्य सब धातुओंको छोडकर केवल लोहे को ही अपने पास खींचता है। जीव भी भविष्यमें जैसे बनने वाला हो वैसी प्रेरणाके वश हो कर, अन्य पुद्गल-समूहको छोड कर केवल कर्म-पुद्गलको ही ग्रहण करता है ।

जैसे, स्वप्नावस्थामें मनुष्य ज्ञानेन्द्रिय (स्पर्शनादि) और कर्मेन्द्रिय (कर-पादादि) की सहायता विना ही सब कार्य करता है, वैसे ही आत्मा भी इन्द्रियादिकी सहायकी जरूरत न रखकर स्वयं कर्मका उपार्जन करता है । यदि कहा जाय कि, ' स्वप्न तो केवल भ्रम मात्र है उससे किसी प्रकारके कार्यकी सिद्धी नहीं होती ' तो कहना पडेगा कि, यह कथन युक्ति शून्य है, क्यों कि अनेक मनुष्योंको, देखे हुए स्वप्नोंका, बहुत वार शुभाशुभ फल मिलता है, और शास्त्रोंमें भी उनका विस्तार पूर्वक वर्णन है । यदि यह कहा जाय कि, ' जिस तरह, देखे हुए स्वप्नोंका स्मरण मनुष्योंको होता है वैसे, ग्रहण किए हुए कर्मोंका स्मरण क्यों नहीं होता ? ' इसका उत्तर यह है कि, जैसे, सब मनुष्योंको, देखे हुए सभी स्वप्नोंका प्रायः स्मरण नहीं होता, किंतु कितने एक मनुष्योंका होता है, वैसे ग्रहण किए हुए कर्मोका भी स्मरण सभी प्राणियोंको नहीं होता, परंतु विशेषज्ञानवान् आत्माओंको अवश्य होता है । जैसे कितने एक मनुष्योंको अच्छे या बुरे स्वप्नका फल, मिलता है, वैसे ग्रहण किए हुए शुभ या अशुभ कर्मका फल भी जीवको मिलता है । जैसे कई एक मनुष्योंका स्वप्न निष्फल जाता

है, वैसे केवलज्ञानी योगीयोंको भी, तत्क्षणमें नाश हो जानेके कारण, कर्मोंका फल नहीं मिलता।

उत्पत्ति काल से लेकर अंत समय तक आत्मा क्या क्या करता है वह भी विचारने लायक है। गर्भकी अंदर शुक्र और रज के बीचमें रह कर, यथोचित आहार लेकर इन्द्रियबल के विना ही, अपने आप शीघ्रता पूर्वक सब धातुओं को पेदा करता है। गर्भकी बाहर आकर–जन्म ले कर भी जैसा आहार मिलता है वैसे का ग्रहण कर, उसके परिणमन से उत्पन्न होनेवाले धातु आदिक के द्वारा शरीरको पुष्ट करता है। तथा रोम–छिद्रों द्वारा भी आहार ले कर, कचरेका त्याग कर, रसका आश्रय लेता है और उसके मलका बार बार बल पूर्वक त्याग करता है। सत्त्व रजो और तमोगुणको धारण करता हूआ, सद्ज्ञान, विज्ञान, क्रोध, मान, माया, लोभ, काम, हिताहित, आचार–विचार, विद्या, रोग, और समाधि विगेरहको भी धारण करता है। इस प्रकार आत्मा शरीरके अंदर किस प्रकार क्रियाएं करता है? क्या शरीरके अंदर, उसके हाथ पैर या आंख कान होते हैं जिन के द्वारा आहारादि प्राप्त कर, तथा प्रकारका पृथक्करण करता है और मुदत पूरी होने पर जिस प्रकार घरका मालिक चला जाता है वैसे वह भी निकल जाता है? पुद्गलसे भिन्न और अमूर्त आत्मा जब इस प्रकार शरीरमें स्थित और व्याप्त रह कर क्रियाएं करता है और सूक्ष्म तथा स्थूल द्रव्योंका ग्रहण–धारण करता है तो फिर अत्यंत सूक्ष्म ऐसे कर्म पुद्गलोंका ग्रहण क्यों नहीं कर सके?

और भी, यह जीव रूप तथा हाथ इत्यादिसे रहित हो कर ऐसे रूपी और स्थूल शरीरको आहार पान आदि इन्द्रियोंके विषयोंमे तथा शुभाशुभ आरंभ वाले कामोंमें किस तरह प्रवर्ताता है सो भी विचारना चाहिए। जो जीवके उद्यम विना ही हाथ और अंगादि से क्रियाएं हो सकती हों तो जीव शून्य–मुरदा–शरीर क्यों नहीं हाथ पैर हिलाता चलाता? इससे सिद्ध होता है कि शुभाशुभ कर्म आत्मा ही करता है, अकेले अंगादि नहीं। ऐसी अवस्थामें अरूपी आत्मा, सूक्ष्म परंतु रूपी कर्मोंको, क्यों नहीं ग्रहण कर सकता? जिस प्रकार ध्यानी पुरुष, बाह्यगत इन्द्रियोंकी मदद विना इच्छित कार्य करता है–जीह्वाकी जरूरत न रख कर जाप जपता है, कानके वगैर सुनता है और जल, पुष्प, फल तथा दीप इन द्रव्योंके विना सद्भाव पूजनको सफल करता है–वैसे यह जीव भी इन्द्रिय तथा हाथ पैर की सहायकी अपेक्षा न रख कर, काल स्वभाव आदि पंच समवायकी प्रेरणासे प्रेरित हो कर कर्मका ग्रहण, धारण और मोक्षण करता है।

प्रश्न—जो जीवके एक एक प्रदेशमें अनंत कर्म लगे हुए हैं तो फिर वे सब पींडीभूत–इकट्ठे हुए हुए दिखाई क्यों नहीं देते?

उत्तर—कर्म पुद्गल अत्यंत सूक्ष्म होनेसे चर्मचक्षु वाले साधारण मनुष्योंकी दृष्टिमें नहीं आ सकते परंतु दिव्यदृष्टि वाले विशेषज्ञ योगी अपने ज्ञान द्वारा उन्हें अच्छी तरह देख सकते हैं। यह बात दृष्टांत दे कर स्पष्ट की जा सकती है

जैसे किसी पात्र या वस्त्र वगेरहमें लगे हुए सुगंधी अथवा दुर्गंधवाली वस्तु के गंध पुद्गलोंको नासिका द्वारा जान सकते हैं परंतु पींडी भूत इकट्ठे होने पर भी आंखोसे नहीं देख सकते, वैसे जीवके लगे हुए कर्म–पुद्गल भी–सूक्ष्म तम होनेसे–अपनी दृष्टिमें नहीं आ सकते। केवलज्ञानी अपने ज्ञाननेत्र द्वारा उन्हें देखते हैं। जैसे सिद्ध किया हुआ पारा सुवर्णको पी जाता है, परंतु वह सुवर्ण अपनी दृष्टिमें नहीं आता और कोई सिद्ध योगी जब, उसे प्रयोग के प्रयत्नसे बाहर निकालता है, तब उसका अस्तित्व निश्चित होता है, वैसे जीवके ग्रहण किए हुए कर्म पुद्गल भी अपनी दृष्टि से अदृश्य हो कर, ज्ञानी पुरुषों के आप्त वाक्यों से निश्चित होते हैं।

४—चतुर्थ-अधिकार।

जीव और कर्मका संयोग।

प्रश्न—जीव अमूर्त है और कर्म मूर्त है तो फिर इस प्रकार साकार और निराकारका संयोग किस तरह न्यायसंगत हो सकता है ? भिन्न जाति और भिन्नस्वभाववाली वस्तुएं आधाराधेय भावको कैसे प्राप्त कर सकती हैं ?

उत्तर—जीवकी शक्ति और कर्मके स्वभावके कारण इन-जीव और कर्म का संयोग हो सकता है। गुणका आश्रय द्रव्य होता है। संसारगत जीव-द्रव्यका गुण कर्म है, इससे गुणभूत कर्मको, गुणीभूत जीवका आश्रय लेना उचित ही है। अमूर्त ऐसे आकाशको शास्त्रज्ञ पुरुष मूर्त व अमूर्त, गुरु व लघु इत्यादि सकल पदार्थोंका महान् आधार मानते हैं तो सोचना चाहिए कि यह अमूर्त पदार्थ मूर्त चीजोंको कैसे धारण कर सकता है ? इस प्रकार आत्मा भी अमूर्त हो कर मूर्त कर्मोंको धारण कर सकता है। तथा जैसे कर्तृवादी—यह जगत् इश्वरने बनाया है ऐसा मानने वाले-प्रलयकालके अंतमें यह संपूर्ण दृश्य जगत् ईश्वरमें लीन हो जाता है

और फिर कालांतरमें प्रकट हो जाता है; ऐसा मानते हैं, तो, जिस प्रकार अमूर्त ईश्वरमें, मूर्त जगत्को अपने अंदर लीन करलेनेकी शक्ति मानते हैं, वैसे अमूर्त जीवमें भी, मूर्त कर्मोंके ग्रहण और धारण करलेनेकी शक्ति मान लेनी चाहिए।

मिथ्यात्वदृष्टि, भ्रम, कर्म, मत्सर, कषाय, काम, कला (स्त्री पुरुषादिकी गीत नृत्य आदि जो कही हैं) गुण, क्रिया आदिमें से शरीरमें रहा हुआ आत्मा क्या क्या नहीं धारण करता? यदि कहा जाय कि ये गुण तो शरीरका आश्रय लेकर रहे हुए हैं तो पूछा जायगा कि,शरीर जब जीव रहित हो जाता है तब ये (गुण) क्यों नहीं दिखाई देते? इससे यही सिद्ध होता है कि ये गुण शरीरका आश्रय लेकर नहीं रहे हैं किंतु जीवका ही आश्रय लेकर रहे हुए हैं। अन्य दूरकी बातें क्यों देखनी चाहिये, इतना ही विचारना चाहिये कि, इस दृश्यमान शरीरको अदृश्य आत्मा किस तरह धारण कर रहा है? इतना विचारने ही से जीव और कर्मका संयोग कैसे हो सकता है; यह कौतुक दूर हो जायगा। जैसे कपूर और हिंगकी फैली हुई अच्छी या बुरी गंध, आकाशको आश्रय बनाकर, रहती है, वैसे कर्म, जीवको आश्रय बना कर रहते हैं। इन दृष्टांतोंसे निश्चित होता है कि, गुण स्वरूप कर्म, जीव द्रव्यका आश्रय लेकर रहते हैं और इसीसे कर्मयुक्त जीव "संसारी" कहलाते हैं। इस प्रकार आत्मा और कर्मका आश्रयाश्रेय-आधाराधेय भाव सिद्ध होता है।

५-पंचम–अधिकार।

मुक्त जीवोंको कर्मबंध नहीं होता.

प्रश्न—चतुर्थ अधिकारमें सिद्ध किया हूआ आत्मा और कर्मका आश्रय–आश्रेयभाव–आधार–आधेय भाव–जब यथार्थ है तो फिर परमेष्ठी संज्ञा वाले और अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य और अनंत सुख से दीप्त एसे सिद्धोंको कर्मका ग्रहण और मोक्षण (छोडना) क्यों नहीं होता? मुक्तात्मा कर्म ग्रहण क्यों नहीं करते? क्यों कि जीव तो वे भी है। जब उन्हें सुख है तो फिर कर्मोंका निषेध कौन कर सकता है?

उत्तर—सिद्धोंको कर्म ग्रहण घट नहीं सकता। क्यों कि कर्मोंका ग्रहण, सूक्ष्म ऐसे तैजस और कार्मण शरीर द्वारा हो सकता है। इन दोनों शरीरोंका सिद्धोंको अभाव होनेसे वे कर्म ग्रहण नहीं कर सकते। सिद्धात्माओंको ज्योतिष्, चिद् और आनंदके भर समूह से सदा तृप्ति रहती है। सुख दुःख आदिकी प्राप्तिके कारणभूत, काल, स्वभाव आदि प्रयोजकोंका सिद्धात्माओंको अभाव है। सिद्धात्मा निरंतर निष्क्रिय हैं। अथवा, सिद्धात्माओं-

का सुख, वेदनीय कर्मके नाशसे उत्पन्न हुआ है अतः वह अनंत है और कर्म तो सांत–अंत वाले हैं, इस लिए भी–परिमाणमें न्यूनाधिकता होनेसे भी–सिद्धोंके अनंत सुखके हेतु कर्म नहीं हो सकते। मतलब कि, सिद्धात्माओंको कर्मग्रहण नहीं होता, क्यों कि, उनको कर्मग्रहण करनेका कोई निमित्त नहीं है। जैसे जगतमें क्षुधा और तृषा से मुक्त ऐसे स्वयं सुतृप्त मनुष्यके तृप्तीकी कालमर्यादा नहीं होती, जितेन्द्रिय संतुष्ट योगिको किसी भी वस्तुके ग्रहण करनेकी अभिलाषा नहीं होती, अथवा जैसे किसी वस्तुसे पूर्ण ऐसे कोई पात्रमें अन्य कोई चीज मा नहीं सकती, वैसे चिदानंद रूप अमृतसे सदा पूर्ण सिद्धात्मा भी कर्मग्रहण नहीं करते। जैसे मनुष्यको अद्भूत नृत्यके दर्शनसे सुख होता है वैसे सिद्धोंको, विश्वके दृश्योंको देखनेसे अत्यंत सुख मिलता है।

प्रश्न—सिद्धोंको कर्मेन्द्रिय या ज्ञानेंद्रिय वगैरह तो कोई है नहीं तो फिर वे, अनंत सुख कैसे प्राप्त कर सकते हैं।

उत्तर—जगत्में, जब कोई मनुष्य ज्वर आदि रोगसे पीडित हुआ होता है और वहुत दिन तक निंद नहीं ले सकता है, और फिर कभी व्याधिके कम होने पर जो घंटे दो घंटे उसकी आंख मिल जाती है तो उस समय उसके पासवाले संबंधी मनुष्य “अभी इसे जगाना मत, यह सुखमें सोया है, अभी इसे सुख मिल रहा है” इत्यादि कहा करते हैं। जैसे निद्रावस्थामें इंद्रियजन्य सुख या करपादादिकी कोइ क्रिया नहीं दिखाई

देती है तो भी सोये हुए मनुष्यको सुख मिल रहा है ऐसा कहा जाता है, वैसे जाग्रत्–ज्ञानादि उपयोग स्वरूपमें रमण करनेवाले-सिद्धों को सदा सुख मिलता है। तथा, आत्मज्ञान और अध्यात्मदशामें रमण करते हुए किसी संतुष्ट और जितेंद्रिय मुनिको कोई अन्य मनुष्य जब पूछता है कि "महाराज आपको कैसा है?" तब वह योगी यही जवाप देता है कि "भाइ! परमानंद है पूर्ण सुख है" उस समय उस मुनिको, कोई अच्छी वस्तुका स्पर्श, स्वादु पदार्थोंका आस्वाद, सुगंधी चीजकी सुवास, रमणीय दृश्य-का दर्शन और प्रिय शब्दका श्रवण नहीं होता, तथा हस्तपादादि की क्रिया भी कोई नहीं होती तो भी संतोपजन्य सुखानुभवके कारण वह योगी वारंवार कहता है कि "परमानंद है" इससे यह नहीं समजना चाहिए कि वह योंही "परमानंद" कह देता है, परंतु उसे वास्तविक सुखानुभव होता है। उसके ज्ञान जन्य सुखका साक्षात्कार वही कर सकता है; अज्ञान मनुष्य उस-का स्वरूप नहीं जान सकते। इसी प्रकार सिद्धात्माओंमें इन्द्रियोंके विषय और क्रियाओंके विना ही अनंत सुख है, उनके सुख–समूहको वे ही जानते हैं अन्य कोई मनुष्य उनके सुखोंका स्वरूप नहीं कह सकता है, क्यों कि वह अवर्णनीय है।

६-षष्ठम-अधिकार।

जीव और कर्मका अनादि संबंध भी छूट जाता है।

प्रश्न-जीवका जो कर्म ग्रहण करनेका स्वभाव है तो फिर वह मूल स्वभावको छोड़कर सिद्ध कैसे हो सकता है ?

उत्तर-जीव और कर्मका यद्यपि अनादि-संबंध है तथापि योग्य सामग्रीके मिलने पर जीव, कर्म ग्रहण करनेके मूल स्वभावको छोड़कर सिद्ध हो सकता है। इस पर दृष्टांत दिये जाते हैं। पारेका मूल स्वभाव चंचल और अग्निके संबंधसे उड़जानेका है परंतु योग्य पदार्थोंके संयोगसे वह अपना मूल स्वभाव छोड़कर अग्निके संबंधमें भी स्थिर रहता है। अग्निका मूल स्वभाव दाहक स्वरूप है, परंतु तथाप्रकारके प्रयोगोंसे-मंत्र-प्रयोग तथा औषधि-प्रयोग द्वारा अग्नि-बंधन करने पर उसमें प्रवेश करने वाले मनुष्योंको दाह नहीं होता। चकोर पक्षी अग्निका भक्षण कर-जाता है परंतु अग्नि-अपना स्वभाव बदल जानेसे-उसे जलाता नहीं। तथा अभ्रक, सुवर्ण, रत्नकंबल और सिद्ध किया हुआ पारा भी अग्निमें नहीं बलता। इन पदार्थोंके संयोगसे, अग्निमें जो मूल दहन शक्ति है वह नष्ट हो जाती है अतः वह अपना

स्वभाव छोड़ देता है। लोह-चुंबक पत्थरका सहज स्वभाव, लोहेको अपनी तरफ खींचनेका है, परंतु जब वह अग्निमें जल जाता है अथवा अन्य किसी ऐसी वस्तुके साथ वह रखा गया हो कि जिससे उसकी शक्ति दब गई हो तो फिर वह अपने स्वभावको अमलमें नहीं ला सकता, ऐसी अवस्थामें वह लोहेको अपने पास नहीं खींच सकता। बस, इसी प्रकार सिद्धावस्थामें भी, जीवका जो मूल स्वभाव कर्म ग्रहण करनेका है वह नष्ट हो जाता है। अनाज वगैरहके दानेमें, जब तक उसके मूल स्वभावमें फरक नहीं पड़ता तब तक ही, उगनेकी-अंकुरोत्पत्ति करनेकी-शक्ति रहती है और जब उसमें विकार उत्पन्न हो जाता है तो फिर वह उग नहीं सकता। इसी तरह सिद्धके जीवोंमें भी, संसारी अवस्थामें जो कर्म ग्रहण करनेका स्वभाव था उसमें, अन्य संयोगोंके कारण परिवर्तन हो जानेसे, कर्मबंध नहीं होता। वायुका सहज स्वभाव चंचल पना है परंतु जब उसे मशक वगैरहमें भर-दिया जाता है तब वह स्वभाव कहां चला जाता है? इसी प्रकार सिद्धात्माओंका भी कर्म ग्रहण करनेका सहज स्वभाव नष्ट हो जाता है। इन उपर कहे गये दृष्टांतोंमें तथा और भी अनेक पदार्थोंमें, संयोगोंकी विचित्रतासे मूल-स्वभावका परिवर्तन हो जाता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है तो फिर सिद्धावस्थामें, जो जीवका कर्म ग्रहण करनेका सहज स्वभाव है, वह परिवर्तन हो जाता है इसमें क्या आश्चर्य है?

७—सप्तम-अधिकार।
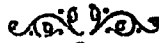
मुक्त-स्थान कभी पूर्णतया नहीं भर सकता और संसार भी कभी भव्यशून्य नहीं हो सकता।

प्रश्न—जैन शास्त्रोंमें लिखा है कि, मोक्षमार्ग अनादि कालसे, नदीके प्रवाहकी माफक वहता चला आता है और भविष्यमें भी इसी तरह सदा वहता रहेगा। अर्थात् अनादि कालसे, इस संसारमेंसे भव्य जीव कर्मबंधनसे मुक्त हो हो कर सिद्धावस्थाको प्राप्त कर रहे हैं और भविष्यमे भी इसी प्रकार करते रहेंगे। ऐसा होनेपर भी कभी यह संसार भव्य-जीव-शून्य नहीं होगा, यह युक्ति विरुद्ध वाक्य कैसे संगत हो सकता है?

उत्तर—जैन शास्त्रोंमें जो यह वात लिखी है सो सर्वथा सत्य है, क्यों कि, उसके प्ररूपक सत्यवादी सर्वज्ञ भगवान् है। अल्पज्ञ मनुष्योंको जो यह वात असंगत मालुम देती है उसका समाधान इस प्रकार है। जैसे पहाड़ आदिमें भरे हुए पानिके द्रहमेंसे नदी निकलती है, और उस नदीका प्रवाह अखंड रीतीसे वहता हुआ

समुद्रमें जाकर मिलता है तो भी वह मूल द्रह कभी खाली नहीं होता, नदीका प्रवाह बंध नहीं होता और समुद्र भी पानिसे भर नहीं जाता। वैसे संसार रूप द्रहमेंसे निकल कर भव्य जीव मुक्ति-मार्गका आराधन कर मोक्ष स्थानको पहुंचते हैं। इस प्रकार मोक्ष-मार्ग सदा चलता रहता है तो भी कभी संसार खाली नहीं होता भव्यजीव खूट नहीं जाते और मुक्ती भर नहीं जाती।

इस उदाहरणसे उपरकी शंकाका समाधान ठीक हो सकता है और जैनशास्त्रोंमे लिखी हुई बातकी सत्यता अच्छी तरह प्रतीत हो जाती है। एक दूसरा भी दृष्टांत इस बात पर दिया जाता है। जैसे, कोई अद्भुत प्रतिभाशाली मनुष्य, संसारके अनेक धर्मोंके, अनेक देशोंके और अनेक भाषाओंके असंख्य शास्त्रोंका अश्रान्त हो कर निरंतर अभ्यास और पाठ जो असंख्य वर्षों तक करता रहे तो भी कभी उसका हृदय, पठित शास्त्रोंके अक्षरोंसे भर नहीं सकता, शास्त्रोंके अक्षर खूट नहीं सकते और शास्त्र खाली नहीं हो सकते। इसी प्रकार संसारमेंसे चाहे जितने भव्य मुक्तिमें चले जाय तो भी मुक्ति कभी भर नहीं सकती, भव्योंकी कमी नहीं हो सकती और संसार जीवोंसे शून्य नहीं हो सकता। मतलब कि मोक्षमार्ग सदा वहता रहता हैं और संसार भी जीवोंसे भरा रहता है। इस प्रकार अनेक उदाहरण इस बात पर दिये जा सकते हैं। जिन्हें विज्ञ पाठक स्वयं विचार लेंगे।

८—अष्टम—अधिकार।

ईश्वरनिरूपण—इस जगत्का कर्ता कोई नहीं।

प्रश्न—परब्रह्मका स्वरूप कैसा है।

उत्तर—परोपकार पारायण ऐसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग भगवान्ने परब्रह्मका निरूपण इस तरह करा है—

परब्रह्म निर्विकार, निष्क्रिय, निर्माय, निर्मोह, निर्मत्सर, निरहंकार, निःस्पृह, निरपेक्ष, निर्गुण, निरंजन, अक्षर, अनाकृति, अनंतक, अप्रमेय, अप्रतिक्रिय, अपुनर्भव, महोदय, ज्योतिर्मय, चिन्मय, आनंदमय, परमेष्ठी, विभु, शाश्वत, स्थितियुक्त, रोध विरोध रहित, प्रभासहित, जगत् जिसका निसेवन करता है, और जिसके ध्यानके प्रभावसे भक्तजनोंकी निवृत्ती होती है, ऐसा ईश्वरस्वरूप है।

प्रश्न—क्या परब्रह्म सृष्टिका कारण है और युगान्त (प्रलयकाल) में परब्रह्ममें ही जगत् लीन हो जाता है?

उत्तर—परब्रह्मको सृष्टि रचनेका कोई कारण नहीं है तथा

उसको, इस विषयमें कोई प्रेरणा करनेवाला जी नहीं है। जो पर-ब्रह्मने सृष्टि रची हो तो, ऐसी क्यों रचे ? यह जगत् जन्म, मरण, व्याधि, कषाय, शृंगार, काम और दुर्गतिके मरसे अत्यंत व्याकुल है। परस्पर द्रोह और प्रतिपक्षसे संयुक्त है। सिंह, सर्प और बीछू आदि प्राणनाशक प्राणीयोंसे व्याप्त है। पारधी, मच्छीमार, और कसाईयोंसे संचित है। चोरी और जारी आदि विकारोंसे पीड़ित है। कस्तूरी, चामर, दांत और चमड़ेके लिए हरिण, गौ, हाथी, और चिताओंका नाशक है। दुर्भिक्ष, दुर्मारी और विड़-वरादिसे कलित है। दुर्जाति, दुर्योनि और कीड़ोंसे पूरित है। विष्ठा, दुर्गन्ध और मुरदोंसे अंकित है। दुष्कर्मको उत्पन्न करने-वाले मैथुनसे अंचित है। सप्त धातुओंसे बने हुए शरीरोंसे समा-श्रित है। प्रचण्ड पाखण्डघटासे विडंबित है। नास्तिको करके सहित और मुनीशों द्वारा निंदित है। वितर्कके संपर्कवाले कुतर्कों से कर्कश है। वर्णाश्रम के जिन्न जिन्न धर्म और षड्दर्शनके आचार विचारोंसे आडंबर युक्त है। नाना प्रकारकी आकृतियोंवाले देवताओंकी इसमें पूजा होती है। पुण्य और पापसे उत्पन्न होनेवाले कर्मोंके जोगोंको देनेवाला है। स्वर्गापवर्गादि जवांतरोंका इसमें उदय-परिवर्तन होता है। श्रीमंत और निर्धन, आर्य और अनार्य आदि जेदोंसे जरा हुआ है। इसमें कितनेक परब्रह्मके साथ वैर रखनेवाले, उसका खंडन करने-वाले और हास्य करनेवाले हैं, तो कितनेक परब्रह्मकी पूजा करने-

वाले, उसका मंडन करनेवाले और स्तवना करनेवाले हैं। इसका विस्तार करनेसे क्या? क्यों कि जो कुछ दिखाई देता है वह विपरीत ही नजर आता है। परब्रह्मके स्वरूपसे बिलकुल भिन्न ही मालूम देता है। विद्वान् लोग तो कहते हैं कि, कार्यमें उपादान कारणके गुण होने चाहिए। संसारमें जो अनित्य वस्तुएं दिखाई देती हैं वे जो, सृष्टिके समय परब्रह्ममेंसे उत्पन्न हुई हो तो योगिजन उनको निंदनीय और जुगुप्सनीय समज कर उनका संसर्ग क्यों छोडते हैं और वैराग्य वृत्ति क्यों धारण करते हैं? जो राग-द्वेषादिसे विरूप स्वरूपवाला ऐसा जगत्, उत्तम प्रकारके योगवेत्ताओंके त्याग करने लायक होता है, वह, युगांतमें परब्रह्मको अपने अंदर लीन करनेके लायक कैसे बन सकता है? इससे तो यही कहना पडेगा कि या तो परब्रह्ममें विवेक न होगा, या शुकादि-योगियोंमें! जो परब्रह्मको—धारण करने योग्य होता है वह अन्य मनुष्योंको—शुकादि योगियोंको त्याग करनेके योग्य होता है! सृष्टि ब्रह्ममेंसे उत्पन्न हुइ है और प्रलय भी उसीमें होगा, ऐसा कहनेवाले 'ब्रह्म अति मूढ है' क्या यह नहीं कहते? क्या इसमें ब्रह्मको वांताहृतिका—वमन किये हुए को खानेका—कुत्सित दोष नहीं लगता? लोकमें एक आधे ब्राह्मण आदि मनुष्यका घात हो जाय तो बडी भारी हत्या गिनी जाती है तो समग्र सृष्टिका संहार करनेवाले ब्रह्मको कैसी हत्या लगती होगी? परमदयालुकी कितनी निर्दयता! अपनी बनाई हुई सृष्टिका संहार करते हुए परब्रह्मको हिंसा नहीं लगती ऐसा कहा जाय तो फिर पुत्रोंको पेदा कर कर मार डालने-

वाले निर्दय मनुष्यको भी पाप नहीं लगता, ऐसा मानना पड़ेगा। ऐसा-सर्जन और संहार करना यह तो ब्रह्मकी लीला है अतः उसको पाप नहीं लगता; ऐसा कहा जाय तो फिर शिकारी मनुष्योंको भी शिकार करने पर पाप नहीं लगना चाहिए, क्यों कि उनकी भी यह-शिकार खेलना लीला ही है! स्वभावसे अथवा कालकी प्रेरणासे प्रेरित होकर ईश्वरको सृष्टिका संहार करनेसे पाप नहीं लगता और इस अनुचित संहारमें बलिष्ठ स्वभाव और काल ही ईश्वरको यदि प्रेरित करता हों तो फिर सृष्टि-संहारमें स्वभाव और काल ही को हेतु रहने दो। युक्तिमें न आवे ऐसे ब्रह्मकी क्या जरूरत है? जो लोक सृष्टिका सर्जन और संहार ब्रह्ममें आरोपित करते हैं वे ब्रह्मकी महिमा प्रकट नहीं करते किंतु निर्दूषणमें दूषणका आरोप करते हैं। ब्रह्मको निष्क्रिय कह कर उसीको फिर जगत्का कर्ता कहना, यह तो 'मेरी माता वंध्या है' ऐसे कहनेवालेके समान हुआ। जो कोई विज्ञानवान् है वे सब ब्रह्मका चिंतन करते हैं। जो वे स्वयं जब ब्रह्मके अंशभूत हों तो फिर उनमें और ब्रह्ममें क्या भेद है? वे किस लिये उसका चिंतन करते हैं? वे जीव जो ब्रह्मांश होंगे तो ब्रह्म स्वयं उनको अपने पास, विना ही परिश्रमके ले जायगा। जो ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये निरागता, निःस्पृहता, निर्लेपता, निष्क्रियता, जितेंद्रियता और समानता इत्यादि का सेवन करना आवश्यक हों और ब्रह्मकी इन ही में प्रीति हों तो फिर ब्रह्ममें निष्क्रियत्व सिद्ध हो चुका। यदि ऐसा कहा जाय कि, ब्रह्मका स्वभाव ही इस प्रकार सक्रियनिष्क्रियादि रूप है,

तो फिर कहना पडेगा कि, कर्तृत्व संबंधी अनेक स्वजावों के कारण कदाचित् इस (ब्रह्म) में अनित्यता जी आ जायगी! द्वेषी जी हो जायगा! राग जी आ जायगा और दृष्टि से जी दिखाई देगा! "ब्रह्म नित्य है। एक स्वभाववाला होने से। क्यों कि, जो एक स्वजाव-वाला होता है वह नित्य ही होता है, जेसे आकाश। ब्रह्म जी वैसा ही है। अतः वह नित्य है।" इस प्रकार जो पंचावयव वाक्य से करी गई व्याप्ति है वह जी नही बनेगा। सृष्टिके सर्जन समयमें और संहार समयमें कर्ता के मनमें रही हुइ जो सक्रियता है वह स्पष्ट ही मालुम देती है। और अन्य समयमें—सर्जन और संहार के अतिरिक्त कालमें—निष्क्रियता रहेगी! तथा जीवोंको जो सुख दुःख दिखाइ देता है उससे इसमे राग द्वेष जी सिद्ध होता है। अथवा कहा जाय कि, जीव जैसा कृत्य करता है उसीके अनुसार सुख दुःख मिलता है तो फिर इसमें कर्ताका क्या पराक्रम? तव तो निश्चित होता है कि स्वतः पुण्य पाप ही सुख दुःखके हेतु हैं। जो जीव ब्रह्मके अंशजूत हों तो ब्रह्मांश समान होने से वे सब समान स्वरूप वाले ही होने चाहिए। जव जीव सुखी दुःखी इत्यादि वहुत प्रकारके दिखाई देते हैं तब इस जेदका करनेवाला, ब्रह्मसे कोई अन्य ही निश्चित होता है। जो जीव ब्रह्मसे जिन्न हों और सुख दुःखका कर्ता ब्रह्म हों, तो फिर जिस हेतुसे ब्रह्म सुख दुःखका कर्ता है उस हेतुका—पुण्य पापका कर्ता जी वही (ब्रह्म) होना चाहिए। ब्रह्मको निरंजन, नित्य, अमूर्त और अक्रिय कह कर उसीको फिर कर्ता, संहर्ता और रागद्वेषादिका पात्र कहना परस्पर

विरुद्ध होने से, यह जगत् भी भिन्न है और ब्रह्म भी भिन्न है ऐसा मुनियोंने स्वीकार किया है और इसी लिए संसारस्थित मुनिगण मुक्तिकी प्राप्तिके लिए पर ब्रह्मका ध्यान करते हैं।

कितनेक लोक ईश्वरकी (विष्णुकी) मायाको जगत्की रचनामें हेतुभूत कहते हैं; उनको विचारना चाहिए कि, ईश्वर मायामें आश्रित है या माया ईश्वरमें आश्रित है? माया जड होनेसे अपने आप किसी अन्य वस्तुका आश्रय लेनेमें समर्थ नहीं है। ईश्वर ब्रह्मरूप होनेसे जानता हुआ माया जैसी जड वस्तुका आश्रय ले, यह हो नहीं सकता। क्यों कि चेतन, परतंत्र होता है तब ही जड वस्तुका आश्रय लेता है। दूसरा यह भी विचारने लायक है कि ईश्वर मायाको एक ही वखत प्रेरित करता है कि, हर एक जीव प्रति प्रथक् प्रथक् प्रेरित करता है? जो मायाको एक ही दफे प्रेरनी पडती हो तो उसकी एक रूपता के कारण तीनों लोक–स्वर्ग, मृत्यु और पाताल–एक रूप ही होने चाहिए। अर्थात्, या तो सब सुखमय ही होने चाहिए या सब दुःखवाले ही। भिन्न स्वरूप वाले तो नहीं होने चाहिए। जो मायाको हरएक जीवप्रति जुदा जुदा प्रेरनी पडती हों तो फिर मायाको अनंतता प्राप्त होगी क्यों कि, जीवराशी अनंत है। ऐसा होने पर माया अनेक प्रकार की हो जायगी और जीव भी भिन्न रूप वाले। अगर कहा जाय कि, " चाहे ऐसा हो, इसमें क्या आपत्ति है? " तो भी विचारना चाहिए कि माया जड–स्वरूप है, वह क्या कर सकती है?।

ईश्वरकी शक्तिसे माया सब कुछ करनेमें समर्थ है, ऐसा मानें तो फिर ईश्वर ही सुखदुःखका दाता ठहरता है। जला, जीवोंने ईश्वरका क्या अपराध किया है जो हरएक जीवके पीछे मायाको चिपकाता है? जो निरपराधी जीवोंको इस प्रकार दुःखादि दे वह ईश्वर काहेका? जो लोक ईश्वरका ध्यान नहीं करते हैं वे उसके अपराधी हैं, अतः उन अपराधीयोंको ईश्वर दुःख देता हों, और जो मनुष्य ईश्वरकी पूजा उपासना करते हों उनको वह सुखश्रेणी समर्पण करता हों तो, फिर ऐसी जो प्रतिक्रिया करनेवाला हो वह तो रागी द्वेषी कहा जायगा! अगर कहा जाय कि, "ऐसा हो, इसमें क्या हानि है?" तो फिर जो मनुष्य ईश्वरकी निंदा जी नहीं करता और स्तुति जी नहीं करता उसकी क्या गति? जगत्में जीव तीन प्रकारके दिखाई देते हैं,—पूजक, निंदक और मध्यस्थ। जब प्रथमके दो प्रकार वाले—पूजक और निंदक—जीवोंकी अच्छी या बुरी गति है तो फिर मध्यम स्थिति वाले मनुष्यकी जी कुछ गति होनी चाहिए। मध्यम दशा वाले को जी गति नियत है तो, उसका कर्ता कौन? इससे तो यही कहना योग्य है कि जैसा कर्म किया हों उस प्रकार सुख दुःख प्रमुख मिलता है।

कोई ऐसा कहे कि, ईश्वर (कर्ता) अपनेमें ही से जीवोंको प्रकट कर, संसार जावको प्राप्त कराता है और महा प्रलयके समय पीछा उनका संहार कर लेता है। उनको पूछना चाहिए कि, ईश्वर विद्यमान जीवोंको प्रकट करता है, या नये ही जीव

बनाता है ? यदि प्रथम पक्ष-विद्यमान जीवोंको प्रकट करता है, यह बात-स्वीकार हो तो, जो ईश्वर प्रलयकालमें जीवोंको इष्ट स्थानमें रख कर, सर्जन कालमें प्रकट करता है, वह तो जरूरतके समय पर नहीं मिलनेके डरसे वस्तुको संग्रह कर रखनेवाले साधारण मनुष्यकी तरह, वस्तु रक्षक होना चाहिए, ऐसा होने से तो ईश्वर असमर्थ गिना जायगा । तथा जो ईश्वर अचिंत्य शक्तिवाला कहा जाता है वह क्या लोभी है ? जो इस प्रकार जीवोंको संग्रह रखता है । जो नये ही जीव रच कर संसार भावको प्राप्त कराता हो तो मूलके स्वरचित जीवोंको मुक्त करनेमें क्या समर्थ नहीं है ? जो इस प्रकार विडंबना देता है। जो ईश्वर स्वरचित पदार्थका भी इस प्रकार संहार करता है तो उसका यह कर्तव्य कितने विवेक वाला है ? बालक भी अपनी बनाई हुई चीजको जहां तक बन सके वहां तक बचानेका प्रयत्न करता है ।

जो, ईश्वरका स्वभाव ही इस प्रकारकी लीला (क्रीडा) करनेका माना जाय तो फिर, अन्य मनुष्य भी अपने स्वभावानुसार ही लीला (क्रीडा) किया करते हैं, उनको भी जगत् में निंदनीय नहीं समझने चाहिए । जिस ईश्वरको यम, नियम, तप, व्रत ध्यान आदि प्रिय लगते हों और उन ही उपायों द्वारा जो ईश्वर लभ्य हों, वह तो कदापि ऐसी लीला नहीं कर सकता । क्यों कि, मनुष्योंको भी ऐसी लीला करनेका, ईश्वरने निषेध किया है, जिस से जीवोंको दुःख पहुंचे । ' औरोंको निषेध करे और

स्वयं उसका सेवन करे" यह तो कोई अतीव निंदित हो उसीका कर्तव्य है; श्रेष्ठ पुरुषका नहीं। इस प्रकार विचार विहीन कार्य करने वालेको कौन ईश्वर कहता है ?। जो ईश्वर स्वयं पवित्र, स्व-जनको पावन करने वाला और ज्योतिर्मयादि गुणों से विभूषित हो कर भी, अपने अंशोको स्वरस—शुद्ध स्वभाव—से विमोह पहुंचा, संसार भाव में रच कर, बहुत दुःखोंका पात्र भूत ऐसा जीवत्व प्रेरता हो तो, ये जीव ईश्वरांश नहीं; अन्य चाहे भले हों! ईश्वर अपने अंशोको, जानता हुआ, निजके रम्य स्वरूपमें से भ्रष्ट कर, जिसके पेट में संकट की पेटी है ऐसे दौर्गत्य दौस्थ्यादिमय इस संसार में सहसा कैसे प्रेर सकता है ? जो ईश्वरकी यह लीला हो तो मानना चाहिये कि, यह संसार ही उसको इष्ट है। ऐसा होने पर फिर संसारी जीवोंको ईश्वरकी प्राप्ति के लिए उग्र कष्ट क्यों सहने चाहिये ? इस प्रकार असंबद्ध उद्गार निकालने वाले के वचनकी कदापि प्रतीति नहीं हो सकती।

प्रश्न—तो फिर इस विषयमें क्या समझना चाहिए?

उत्तर—जो समझना चाहिये उसका उल्लेख किंचित् रूपसे यहां किया जाता है—ज्योतिर्मय, चिन्मय, सदा एक रूप, जगत् के सुख दुःखके हेतुओंको देखने वाला और योगीश्वरोंको जिसका स्वरूप ध्येयतम है, ऐसा परमेश्वर है। जीव तथाप्रकार के कर्मयोगसे सुगति अथवा दुर्गति, सुख अथवा दुःख पाता है। जब जीव समानभावको धारण करता है तब ब्रह्मत्वको प्राप्त करता

है। परमेश्वर संबंधी सृष्टि संहारकी कथाकी प्रवृत्ति करनेसे जो जन समुदाय संतुष्ट होता हो तो, स्फूर्ति और प्रजावका प्रतिपादन करने के लिये ईश्वरकी स्तुति करनी योग्य है। परमेष्टि-परमेश्वरको कर्ता कहनेकी जरूरत नहीं। जैसे लोक में कोई शूरवीर पुरुष, अपने स्वामीके शस्त्रों द्वारा शत्रुओंको जीत कर अपने अंगमें सुख करनेसे वह शूर सुख-कर्ता कहलाता है वैसे परमेश्वरका ध्यान करनेवाला, परमेश्वरके ध्यानके द्वारा आत्माको सुखी करनेसे वह ध्याता, कर्ता कहलाता है और आत्माका अज्ञान रूप अंधकारका अपहार करनेसे संहर्ता कहलाता है। जैसे शूरवीर मनुष्यके शस्त्रको काममें लेने पर, शस्त्रके मालिक को किसी प्रकारका प्रयास नहीं करना पमता वैसे जक्त मनुष्यको परमेश्वरका ध्यान करने पर, परमेश्वरको किसी प्रकारकी क्रिया नहीं करनी पमती। इससे ईश्वरकी निष्क्रियता सिद्ध होती है। जैसे शूरवीरको शस्त्रके प्रजावसे सुख होने पर, सुखका करने वाला शस्त्रका स्वामी है' एसा व्यवहार किया जाता है वैसे जक्तजनको जी ध्यान के प्रजावसे सुख मिलने पर, उस सुखका देने वाला ध्यानका स्वामी ध्येय-परमेश्वर कहा जाता है। ऐसे अनेक उदाहरणो द्वारा परमेश्वरका ध्यान करने वाले जक्तको सृष्टि और संहारका कर्ता कह सकते हैं, अन्यथा नहीं।

९—नवम—अधिकार ।

ब्रह्म स्वरूप वर्णन ।

प्रश्न—ब्रह्म किसको कहते हैं ?

उत्तर—ब्रह्म उसीका नाम है, जिसको सिद्ध कहते हैं, विशुद्ध हृदय वाले मुनियोंको जो ध्यान करने योग्य है और मोक्ष नगरको पहुंचनेकी इच्छा वाले मुमुक्षु जिसको भव समुद्रमें जाहाज समान गिनते हैं।

प्रश्न—जो यह सृष्टि ब्रह्ममें से उत्पन्न नहीं हुई तो फिर कहांसे पैदा हुई और कहां प्रलय होगी ?

उत्तर—सर्वज्ञ सर्वदर्शी ऐसे भगवान वीतरागने कथन किया है कि, काल १, स्वभाव २, नियति ३, कर्म ४ और उद्यम ५, इन पांच समवायों से सृष्टिका सर्जन और संहार होता है।

प्रश्न—पुरातन तत्त्ववेत्ता महात्मा पुरुष जो कहते हैं कि, ब्रह्म में ब्रह्म लीन होताहै और ज्योति में ज्योति मिल जाती है, सो यह प्रवाद ब्रह्म बगैर कैसे घट सकता है ?

उत्तर—चिद्रूप पुरुष ज्ञान ही को ब्रह्म अथवा ज्योति कहते हैं। एक सिद्धका ब्रह्म—ज्ञान या ज्योति—सर्व दिशाओं में जितने अनंत क्षेत्रमें आश्रित हो कर रहा है, उतने ही क्षेत्र में दूसरे सिद्धका ब्रह्म, इसी तरह तीसरे सिद्धका ब्रह्म, ऐसे अनंत सिद्धोंका ब्रह्म उतने ही अनंत प्रदेश में आश्रित—व्याप्त—हो कर रहा है, इसीसे यह कहा जाता है कि, एक ब्रह्म में दूसरा ब्रह्म लीन हो कर, और एक ज्योति में दूसरी ज्योति मिली हुई रहती है।

प्रश्न—जो ऐसा हो, तो क्षेत्र का सांकर्य क्यों न हो? तथा परस्पर संमिलित ब्रह्म को संकीर्णता कैसे न हो?

उत्तर—जैसे किसी विद्वान् के हृदय में अनंत शास्त्राक्षरों का संग्रह होने पर भी उसकी छाती संकुचित नहीं हो जाती, तथा अक्षरोंका पिंड—समूह—नहीं बन जाता, वैसे ब्रह्म परंपराश्रित ब्रह्म (ज्ञान) द्वारा सर्वतः आश्लिष्ट—सर्व तरफसे व्याप्त—क्षेत्र (दिव्) संकुचित नहीं होता और ब्रह्म को सांकर्य—संकोच—भी नहीं होता। इसी तरह सिद्धात्माओंसे भरा हुआ सिद्धक्षेत्र संकीर्ण नहीं होता और सिद्ध—परंपराश्रित सिद्ध संकोच रहित शुद्ध स्वभावमें शाश्वत रूप से प्रतिष्ठित हैं।

१०—दशम-अधिकार।
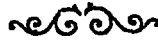
निगोद—स्वरूप।

प्रश्न—निगोद के जीव अनंतकाल तक निगोद ही में रहते हैं। नरक गतिके जीवों करते अनंतगुण अधिक दुःख निगोदके जीवोंको रहता है। अल्प समयमें अनेकवार जन्म लेते हैं और मरते हैं। इन जीवोंको मन भी नहीं होता। जो जीव व्यवहार-राशिमें आते हैं वे क्रम-पूर्वक विशिष्ट बनते हैं। व्यवहार राशिमें से जो जीव पीछे जाते हैं वे फिर निगोद जैसे बन जाते हैं। यह सब कथन कैसे समझना चाहिये?

उत्तर—निगोदके जीव उनके जाति स्वभावसे तथा महा कष्ट-कारक भावी कालकी तादृश प्रेरणासे सदैव अनंत दुःख सहन करते हैं। यहां पर दृष्टांत दिया जाता है। लवण-समुद्रका पानी सदा काल खारा होता है। अनंतकाल में भी वह पीने के योग्य नहीं बनता और वर्णांतरको भी नहीं प्राप्त करता। ऐसी की ऐसी स्थिति में रहते हुए लवण-समुद्र को अनंतानंतकाल व्यतीत हो गया! जैसे लवण-समुद्रका पानी वर्साद के बादल द्वारा नीचे गि-

रकर, गंगा आदि नदीयों में मील कर, पीने योग्य बन जाता है वैसे निगोदमें से निकल कर जीवगण व्यवहार राशि को प्राप्त कर सुखी बन जाते हैं। जैसे गंगा नदीका पानी पीछा समुद्रमें मिल कर खारा बन जाता है वैसे व्यवहारराशिमें से निकल कर जीव पीछे निगोदमें मिल जाते हैं और पूर्ववत् फिर अनंत दुःखके अनुभवी बन जाते हैं। दूसराभी उदाहरण है। मारण उच्चाटन आदि दुर्मंत्रोंका जो प्रयोग करता है वह मनुष्य दुर्मांत्रिक कहलाता है। उस दुर्मांत्रिक के हृदय जैसा निगोद-स्थान है। दुर्मंत्रके वर्ण-समान निगोदके जीव हैं। सन्मंत्रके वर्ण-समान व्यवहारराशिके जीव हैं। जैसे दुर्मंत्रके वर्णों में से जो वर्ण सन्मंत्र में आते हैं वे शुभ कहलाते हैं वैसे निगोद के जीवों में से जो जीव व्यवहारराशि में आते हैं वे विशिष्ट कहलाते हैं। जैसे सन्मंत्र में से जो वर्ण पीछे दुर्मंत्रमें लाये जाते हैं वे उच्चाटन आदिके खराब नामसे पुकारे जाते हैं और दोषसे दूषित बनते हैं वैसे व्यवहारराशि में पीछे निगोद में गये हुए जीव निगोद जैसे बन जाते हैं। बुध्धिमान मनुष्य ऐसे ऐसे दृष्टांतों द्वारा स्वयं समझ सकते हैं।

प्रश्न—निगोदके जीव जब संपूर्ण लोक में व्याप्त होकर रहे हूए हैं तो फिर वे पिंडमय बन कर दृष्टिगोचर क्यों नहीं होते ?

उत्तर—निगोदके जीव अतिसूक्ष्म नाम-कर्म के उदय से एक ही शरीरमें अनंत जीव इकठे हो कर रहते हैं इस लिए

वे चर्मचक्षु से नहीं दिखाई देते । जैसे पंसारी की दुकान में रही हुई हींग, कपूर, लसुन, प्याज आदि अनेक अच्छी बुरी चीजों की परस्पर मिली हुइ अच्छी या बुरी गंध, अन्य वस्तुओंको रहने के लिऐ जगह में हरकत नहीं करती–जगहको रोक नहीं लेती —वैसे परस्पर मिलकर रहे हुए, और संपूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हुए हुए भी निगोद के जीव अन्य पदार्थों के स्थानको नहीं रोक रखते । हां, एक शरीर में अनंत जीवोंका निवास होनेसे, परस्पर उनको दुःख बहुत होता है, परंतु अन्य वस्तुसमुदायके स्थानमें वे हरकत करने वाले नहीं बनते । जैसे हींग वगेरह की गंध नाक द्वारा ही जानी जा सकती है परंतु आंखो द्वारा कभी भी देखी नहीं जा सकती. वैसे निगोद के जीव भी श्रीजिनेश्वर भगवानके वचन से मन द्वारा माने जा सकते हैं किंतु आंखों द्वारा देखे नहीं जाते । फक्त केवलज्ञानी ही देख सकते हैं । जैसे, सदा और सर्वत्र उडती हुई सुक्ष्म रज, यों आखो से देखी भी नहीं जाती और इकठी होती भी नहीं मालूम देती परंतु जाळी झरूखे के छीद्रों द्वारा पडते हुए सूर्यके किरणोंमें उडती हुई त्रसरेणु दिखाई देती है वैसे दिव्यज्ञान द्वारा निगोदके जीव भी दिखाई देते हैं ।

प्रश्न—निगोदादि के जीव आहार का सेवन करते हैं तो फिर वे गुरुभावको क्यों नहीं प्राप्त होते ?

उत्तर—जैसे पारा, विविध धातुओंका भक्षण करता हुआ भी गुरुभावको नहीं प्राप्त करता, चंपे के फूल से सुगंधित अथवा

कृष्णागुरु धूप से धूपित वस्त्र, मूल वजन से कुछ अधिक वजन वाला नहीं होता, सिद्ध किया हुआ एक तोला पारा यदि सौ तोला सुवर्ण खा जाय तो भी उसका वजन बढने नहीं पाता, और मशक या पखाल में पवन भरने पर भी उसके वजन में अधिकता नहीं होती वैसे निगोदादिके जीव भी आहार करने पर गुरुता को प्राप्त नहीं होते।

प्रश्न—निगोद के जीव किस कठिन कर्मके उदयसे अनंतकाल तक अत्युग्र दुःख को सहन करते हैं ?

उत्तर—इस प्रश्न संबंधी संपूर्ण विचारको जनाने के लिए तो केवली सिवाय अन्य अल्पज्ञ मनुष्य समर्थ नहीं है; तो भी उसका आशय समझाने के लिए किंचित् कर्म प्रकार कहनेमें आता है। निगोद के जीव स्थूल आस्रवका सेवन करनेमें समर्थ नहीं हैं, परंतु उग्र कर्म के उदय से, एक एक शरीर में, अनंत अनंत जीव एक दूसरे का भेदन कर, रहे हुए हैं। इस प्रकार अत्यंत संकुचित स्थान में अनंतो का निवास होनेसे परस्पर एक दूसरे का विंधन कर निकाचित वैरका बंधन करते हैं। ऐसा निकाचित बंधन एक एक जीवका अनंत अनंत् जीवोंके साथ बंधता है। एक जीवके साथ बंधा हुआ निकाचित वैर भी अत्यंत दुःखदायी होता है तो फिर अनंत जीवोंके साथ का तो कहना ही क्या? इस प्रकार एक वखत बांधा हुआ वैर अनंतकाल तक भोगना पडता है, और वह बारंबार वृद्धिको प्राप्त होता हुआ अनंतानंतकाल तक भोगने पर भी

खतम नहीं होता ! इस प्रकार निगोद के जीवोंको दुष्कर्मका संचय भी अनंत है और उसे भोगनेका काल भी अनंत। कैदखाने में पड़े हुए कैदी जैसे परस्पर के संमर्दन से पीड़ित हो कर 'इन में से कोई मर जाय या चलाजाय तो मैं सुख पूर्वक बैठूं, और भक्ष्य भी कुछ अधिक प्रमाणमें मिलने पर पेट भरके खाऊँ' इस प्रकारकी दुष्ट भावनासे, एक दूसरा एक दूसरेके साथ निकाचित वैरका बंधन करता है,—जो कालांतर में वृद्धिको प्राप्त हो कर भुक्तने के समय अत्यंत भयानक लगता है। यही हाल निगोदके जीवोंके विषयमें भी जानना चाहिए। छोटेसे पींजरेमें पूरे हुए बहुतसे पक्षी तथा जालमें फसी हुई बहुतसी मच्छीयां जैसे परस्पर के मर्दन से अत्यंत दुःख पाती हैं वैसे निगोदके जीव भी परस्पर के मर्दनसे दुःख पाते हैं। ज्ञानवान् कहते है कि, किसीको फाँसी वगेरह दी जाती हो या किसी पशुका प्राण नाश किया जाता हो उसको कुतूहल से देखने वाले मनुष्य, द्वेषके न होने पर भी सामुदायिक कर्मका बंधन करते हैं जो कि, निश्चय पूर्वक अनेक प्रकार से, कष्टकर हालत में भुक्तना पड़ता है। इस प्रकारसे कौतुक से बंधे हुए कर्मोंका विपाक भी अत्यंत दारुण होता है तो फिर, निगोद के जीवोंने जो परस्पर बाधाजन्य विरोधसे, अनंत जीवोंके साथ बंधे हुए कर्मों का भोग—परिपाक अनंतकाल बीतने पर भी पूरा न हो, इसमें क्या आश्चर्य ?

प्रश्न—निगोद के जीवों को मन न होने पर भी तंडुल-

मत्स्य की माफक, जिनका परिपाक अनंतकाल तक भुक्तना पड़ता है ऐसे, कर्मोंका बंधन कैसे करते हैं ?

उत्तर—निगोद के जीवों को मन का अभाव है तो भी अन्योऽन्य विबाधाके कारण उनको दुष्कर्म का बंधन अवश्य होता है। जहर चाहे जानकर खाया गया हो चाहे अजानकर, परंतु उसका फल अवश्य मिलता है–मृत्यु के द्वार को अवश्य दिखलाता है। यदि जानकर खाया गया हो तो, उसका उपाय भी हो सकता है और कदाचित् मनुष्य बच भी सकता है परंतु अजानपने में खाया हुआ तो अवश्यही दारुण फल देता है। इसी प्रकार मन के बगैर पैदा किया हुआ परस्पर का वैर अनंतकाल तक भुक्तने पर भी पूरा नहीं होता। निगोद के जीवों को मन नहीं है तो भी मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और काययोग–जो कर्मके बीज भूत हैं–अवश्य हैं, जिन के द्वारा कर्म संचय करते रहते हैं।

११—एकादश-अधिकार ।
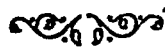
जगत् में सकल पदार्थोंका समावेश हो सकता है ।

प्रश्न—जगत् जब निगोद के जीवों से ही परिपूर्ण है तो फिर उसमें कर्म तथा अन्य पुद्गल-समूह और धर्मास्तिकायादि पदार्थ कैसे रह सकते हैं ?

उत्तर—जैसे पंसारी की दूकान में कर्पूरका गंध फैला हुआ होने पर भी उसमें, कस्तूरी तथा जायफलादि वस्तुओं का गंध, पुष्पादि का गंध, सूर्यका ताप, धूपका धूम, वायु, शब्द, त्रस-रेणु इत्यादि अनेक पदार्थोंका समावेश होता है। जैसे प्रतिभाशाली पुरुष के हृदयमें शास्त्र-पुराणविद्याके होने पर भी वेद, स्मृति, व्याकरण, कोष, ज्योतिष, वैद्यक, राग, रस, मंत्र, तंत्र, ध्यान, कला, वार्ता, विनोद, विलास, दान, शील, तप, भाव, शांति, धृति, सुख, दुःख, सत्त्व, रजः तमः, विषय, कषाय, मोह, मैत्री, भय, मत्सर, शंका, आधि, व्याधि इत्यादिका समावेश होता है। और जिस तरह जंगलमें सूक्ष्म रज, त्रसरेणु, सूर्यका ताप, अग्निका ताप, पुष्पोंकी वास,

वायु, पशुपक्षीयोंके शब्द, वादित्र नाद, पत्रों को आहट वगेरह सब मा जाते हैं, तौ भी अन्य चीजोंके लिए जगह रहती है, वैसे सारा जगत्, निगोद के जीवोंसे परिपूर्ण होने पर भी अन्य सब द्रव्यों का उसमें समावेश हो जाता है। इतना ही नहीं, इन सब द्रव्योंसे सारा ब्रह्माण्ड पूरित होने पर भी, और भी अवकाश विद्यमान है।

१२—द्वादश-अधिकार।

कर्मोंका प्रेरक कोई नहीं।

प्रश्न—जगत् के जीव कर्मानुसार सुख दुःख का सेवन करते हैं, तो उस कर्मगण को प्रेरणा करने वाला कोई कर्ता, विधि, ग्रह, यम, परमेश्वर या भगवान् होना चाहिये। क्यों कि, जीव स्वभाव से ही सुखका अभिलाषी और दुःखका द्वेषी होने से, शुभ कर्मों को तो स्वेच्छा पूर्वक ग्रहण कर सकता है परंतु अशुभ कर्मोंको कैसे (स्वेच्छासे) स्वीकार कर सके?

उत्तर—जीवका स्वभाव ही है कि वह प्रतिक्षण शुभाशुभ कर्मोंका ग्रहण करता रहता है। जीवको सुख दुःख देनेवाला स्वकृत-कर्म के सिवाय अन्य कोई नहीं है। कर्म-स्वरूप को जानने वाले विद्वान् कर्म को ही भाग्य, स्वभाव, भगवान्, अदृष्ट, काल, यम, दैवत, दैव, दिष्ट, विधान, परमेश्वर, क्रिया, पराकृत विद्या, विधि, लोक, कृतान्त, नियति, कर्ता, प्राक्कीर्ण, प्राचीन, लेख, विधाता इत्यादि नामों से शास्त्रों में प्रतिपादन करते हैं।

प्रश्न—कर्मको प्रेरणा करने वाली कोई व्यक्ति तो अव-श्य होनी चाहिए । कर्म अजीव और जड होनेसे क्या कर सकते हैं ?

उत्तर—कर्मका ऐसा स्वभाव ही है कि, वह किसी की भी प्रेरणा विना, अपने आप, आत्माको स्व स्वरूप योग्य फल देता है । जीव, जो अजीव शरीरके साथ संबंध रखकर वर्तमान में जी रहे हैं, पूर्वकालमें जीते थे और भविष्यमें जीवेंगे, उन सबका कर्मोंके साथ त्रैकालिक संबंध है, यह ध्यानमें रखना चाहिए । यह संपूर्ण जगत् षट् द्रव्य,–धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव और पुद्गल; और पंच समवाय,–काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत और पुरुष-प्रयत्न, स्वरूप है । इससे अन्य स्वरूप नहीं । द्रव्योंमें धर्मास्ति कायादि ५ जड द्रव्य हैं और एक जीव चैतन्य द्रव्य है । धर्मा-स्तिकाया जीवके चलने फिरने में मदत करता है । अधर्मास्ति-काय बैठने करने में प्रेरणा करता है । आकाशास्तिकाय अव-गाहन–अवकाश देता है और पुद्गलास्तिकाय द्वारा जीव आहारादि करता है । इस पुद्गलास्तिकायमें ही कर्मों का अंतर्भाव होता है। काल–द्रव्य आयुष्यादि सब स्थिति युक्त पदार्थों की स्थिति नियत करनेमें उपयोगी है । काल आदि पंच समवायके सामर्थ्य से जीव कर्मोंका ग्रहण, धारण, भोग और शमन करता है । अर्थात् जीव करतें अजीव बलवान् है कि जिनसे प्रेरित हो कर जीव सुख दुःख के भागी बनते हैं । जीव शुभाशुभ कर्मोंको ग्रहण

करते हैं, और कर्म स्वकाल-मर्यादा को प्राप्त कर, जीवों को सुख दुःख देते है, यह उनका स्वभाव है।

प्रश्न—जीवका यह स्वभाव है कि, वह शुभाशुभ कर्मों को ग्रहण करता रहता है। और कर्म-ग्रहण करता हुआ वह, यह भी जानता है कि, मैं स्वाभिप्राय पूर्वक इष्ट कार्य करता हूं यह बात तो मान्य हो सकती है। परंतु कर्म तो जड है-उनको कीसी प्रकारका ज्ञान नहीं है, तो फिर वे किस तरह जान जाते हैं कि, यह हमारा भोग-काल-जीवको कर्म फल के भुक्तने का समय-है इसलिए हमें प्रकट हो कर, जीवको बांधे हुए कर्मोंका फल पहुंचाना चाहिए? क्या आत्मा दुःख पानेकी इच्छा वाला है, जिससे वह दुष्टकर्मों को उदयमें लाता है? इससे तो यही सिद्ध होता है कि, अवश्य कोई ऐसी व्यक्ति है, जो चिरकाल के बाद भी कर्म करने वाली व्यक्ति को सुख दुःख पहुंचाने के लिऐ कर्मोंको प्रेरणा करती है।

उत्तर—कर्म जड हैं इसलिए वे निज भोगकालको नहीं जानते, आत्मा भी दुःख पानेकी इच्छा वाला नहीं है; तथापि जीव दुःखका आश्रित होता है और कर्म जड होने पर भी, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-रूप सामग्री को तथा प्रकारकी अनिवार्य शक्तिसे प्रेरित होकर प्रकट होते हैं,-उदयमें आते हैं, और स्व-कर्ता आत्माको बलात्कार दुःख देते है। इस बात पर उदाहरण दिया जाता है। जैसे, कोई मनुष्य गरमीकी मोसममें ठंडी चीज

खाकर, उसके ऊपर जो केरी आदि खट-मीठी चीज खाय तो उसके शरीर में वायुका उत्थान होता है जो चौमासेकी मोसम में अत्यंत कुपित हो जाता है और फिर शरदृतु के संयोगसे पित्तका प्रभव होता है जिसके कारण वह वायु शांत हो जाता है। स्वेच्छा पूर्वक किए हुए भोजनसे वायुकी उत्पत्ति, स्थिति (वृद्धि) और शांति (नाश) इन तीनों दशाओं में जैसे केवल एक काल ही हेतु है वैसे ही आत्माको कर्म के ग्रहण, स्थिति और शांति में भी केवल कालही हेतु है। इस प्रकार, जीवके उपार्जन किए हुए कर्मोंका भोग और नाश, काल निमित्तसे होता है तो भी प्रबल औषधोपचारसे जैसे काळ प्राप्त होनेके पूर्व भी वातादिकी शांति हो जाती है वैसे कर्म भी सम्यग्-दर्शनादि रूप उपचारों से, प्राप्त-काल के पूर्व भी, शांत-नाश हो जाते हैं। तथा, जैसे कितनीक वखत, स्वादिष्ट भोजन शरीरमें तत्काल उग्र वातादि उत्पन्न करता है वैसे प्रबल कर्म भी, किसीकी प्रेरणा विना ही आत्माको तत्काल फल पहुंचाते हैं। दुसरा दृष्टांत—जैसे कोई स्त्री किसीकी प्रेरणा विना स्वेच्छा पूर्वक पुरुष के साथ संभोग करती है और उससे उसको गर्भ रहता है, गर्भका काल पूर्ण होने पर प्रसूति करते समय उसको सुख अथवा दुःख होता है वैसे जीवके किए हुए शुभाशुभ कर्म भी, काल प्राप्त होने पर, किसीको प्रेरणा विना ही उदयमें आकर सुख अथवा दुःख देते हैं। जैसे कोई विमार मनुष्य दवाई लेता है तब वह यह नहीं जानता कि, यह

दवाई हितकारी है अथवा अहितकारी, तो भी उसका परिपाक-काल पुरा होने पर वह सुख अथवा दुःख देती है वैसे कर्मोंको ग्रहण करता हुआ जीव यह नहीं जानता कि, ये कर्म शुभ हैं या अशुभ, परंतु उनका परिपाककाल पूर्ण होने पर वे स्व—स्वभावानुसार जीव को सुख अथवा दुःख देते हैं। बनाया हुआ झहर जैसे कोई तत्काल मृत्यु देने वाला, अथवा कोई एक महिने बाद, कोई दो महिने बाद, कोई छः महिने बाद, कोई वर्ष बाद, कोई दो वर्ष बाद और कोई तीन वर्ष बाद भी मृत्यु देने वाला होता है वैसे कर्म भी अनेक प्रकारके और भिन्न भिन्न स्थिति वाले होते हैं, जो अपना अपना काल प्राप्त होने पर, स्वयं प्रकट हो कर कर्ता—जीवको तादृश फल देते हैं। सिद्ध किया हुआ अगर असिद्ध पारा किसी रोगी के खानेमें आवे तो उसकी स्थिति परिपक्व होने पर खाने वाले को सुख अथवा दुःख पहुंचाता है; शरीरमें पैदा हुए हुए फोड़े, बाले, दुर्वांत, सन्निपात आदि रोग जैसे काल—बल को पाकर अपने आप रोगी को दुःख पहुंचाते हैं; तथा सब ऋतुएं जैसे अपना अपना समय प्राप्त कर मनुष्य लोकवर्ती प्राणियों को सुख—दुःख देती है वैसे कर्म भी अपने अपने समय को प्राप्त कर, किसीकी प्रेरणा विना ही जीवको सुख—दुःख पहुंचाते हैं। शीतला आदि बाल रोगोंकी असर जैसे छः महिने तक शरीरमें रहती है वैसे कर्म भी अपने आप आकर, स्थिति मुताबिक, जीवका आश्रय लेते हैं। जैसे क्षय आदि रोगोंका परि-

पाक हजार दिनमें होता है; ऐसा शास्त्र विशारद वैद्य अपने ज्ञान बलसे बताते हैं, वैसे तत्त्वज्ञानी सिध्धान्त वेत्ताओंने कर्मका परिपाक कालजी कहा है। जैसे, पित्तसे उत्पन्न हुआ ज्वर दश दिन, कफसे पेदा हुआ १२ दिन, वातसे जन्मा हुआ ७ दिन और त्रिदोषसे उठा हुआ १५ दिन तक रहता है; अर्थात् जैसे इन ज्वरोंका परिपाक काल जुदा जुदा होता है वैसे किए हुए कर्मोंका स्थिति काल जी जुदा जुदा होता है। जीवने जिस प्रकारका पूर्व जन्ममें आचारण किया हुआ होता है उसीके अनुसार जन्म कुंमलीमें ग्रह पमते हैं, उन ग्रहोंका फल जैसे महादशा और अंतर्दशादि सहित स्वस्थिति अनुसार, किसीकी प्रेरणा विना स्वजाव ही से जोगा जाता है वैसे अन्य कर्मोंसे व्याप्त जो कर्म आत्माने किये हैं उनका फल, परिपाक काल प्राप्त होने पर, किसीकी जी प्रेरणाके विना जोगा जाता है।

प्रश्न—कर्म कितने प्रकारसे उदय में आते हैं?

उत्तर—कर्म चार प्रकारसे जोगे जाते हैं।

प्रथम प्रकार—इस जन्ममें किये हुए कर्म इसी जन्ममें जोगे जाते हैं। जैसे किसी सिध्ध पुरुषको, साधु महात्माको और राजा आदि को जेट की हुई अल्पसी वस्तुजी पुष्कल लक्ष्मी देने वाली हो जाती है; और चोरी, खुन इत्यादि दुष्कृत्य इसी जन्ममें नाश—मृत्यु के लिए होते हैं। दूसरा प्रकार—यहां पर किया हुआ कर्म परलोक में प्रकट होता है। जैसे यम, नियम व्रता

शुभाचरणोंसे देवत्व मिलता है और इनसे विरुद्ध झूठ, व्यभिचारादि नरकके देने वाले होते हैं। तीसरा प्रकार–परजन्ममें किया हुआ कर्म इस जन्ममें सुख–दुःख देने वाला होता है। जैसे किसी एक पुत्र के जन्म लेने पर, उसके पूर्व कर्मानुसार दरिद्रता और माता पिता प्रमुखका वियोग होता है और उसकी जन्म कुंडली में ग्रह भी खराब पड़ते हैं। दूसरे एक पुत्र के जन्मने पर, उसके शुभ कर्मसे संपत्ति, प्रभुता और माता विगेरहका खुब सुख मिलता है और उसकी जन्मपत्रिकामें ग्रह भी अच्छे पडते हैं। चौथा प्रकार–पर जन्ममें किए हुए कर्मोंका फल पर जन्ममें भोगा जाता है। अर्थात् इस जन्ममें किया हुआ कर्म इसी भवमें अथवा दूसरे भवमें नहीं परंतु तीसरे भवमें फल देने वाला होता हैं। दृष्टांत तया–कोई मनुष्य इस जन्ममें उग्र व्रत नियमादि करे परंतु, उसके तपस्यादि करनेके–पहिले उसने देव अथवा तिर्यंचादि भवका अल्प आयुष्य बांध लिया हो तो, व्रतादिके प्रभावसे, दीर्घायुष्य युक्त भोगने लायक महान् फल उसको, उस जन्मके बादके भवमें, द्रव्यादि की सामग्रीका तथा प्रकारका उदय होने पर, मिलता है। कोई मनुष्य किसी वस्तुको “ कल काम आयगी ” ऐसा सोच कर रख छोडे और उस दिन उसको काममें नहीं लाये तो संचित की हुई चीज, दूसरे दिन भी काममें आ सकती है; यही हाल कर्मोंकाभी समझना चाहिए। इस प्रकार चार तरहसे कर्म भोगे जाते हैं, ऐसा आप्तवचन है। कर्म संबंधी गहन स्वरूप को यथार्थ रीतिसे वर्णन करने के लिए तो केवलज्ञानी सिवाय अन्य कोई समर्थ नहीं है।

प्रश्न—कर्म कितनी प्रकारकी अवस्था वाले होते हैं ?

उत्तर—कर्म तीन प्रकारकी अवस्था वाले होते हैं। ये तीनों अवस्थायें इस प्रकार हैं-भुक्त, भोग्य और भुज्यमान। शुभ यथा अशुभ सब कर्मोंकी ये ही तीन अवस्थायें हैं। जमीन ऊपर गिर कर सुख जाने वाले वर्षादके बिंदु सदृश भुक्त कर्म हैं, पृथ्वी उपरांत अथ से पीछे पड़ कर सुख जाने वाले बिंदुओ के जैसे भोग्य कर्म समझने चाहिये और गिरते गिरते ही सुख जाने वाले बिंदुओं के समान भुज्यमान कर्म जानने चाहिए। अथवा, मुंहमें रखे हुए ग्रास के सदृश भुक्त कर्म, ग्रहण किए जाने वाले ग्रासके समान भोग्यकर्म और हाथसे उठा कर मुखमें रखा जाता हुआ ग्रासके जैसा भुज्यमान कर्म समझिए। व्रती और अव्रती-सञ्ज्ञी संसारी जीवों को भुक्त भोग्य और भुज्यमान कर्म होते हैं। केवलज्ञानवाले महात्माओंको बंधाते हुए कर्म, शिला ऊपर पड़ते हुए वर्षाद के बिंदु जैसे अल्पस्थिति वाले होते हैं। उनकी भी ये तीन अवस्थायें समझनी। कर्त्ता आदि दूसरे की प्रेरणा विना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके तथा प्रकारके स्वभावसे कर्मोंकी भुक्तादि तीन दशायें होती हैं। सिद्धात्माओने कर्मोंका नाश पूर्व ही में किया हुआ होनेसे, ये तीन दशायें उनको नहीं होती। मुक्त कर्म ऐसी दशाभी, केवल ज्ञान उत्पन्न होने वाले भव के अंत तक ही जाननी चाहिए, सिद्धावस्थामें नहीं।

कर्म संबंधी यह विचार सामान्य मनुष्यों को बोध होनेके लिये लोक प्रसिद्ध उदाहरणों द्वारा कहनेमें आया है। विद्वान् जन प्राचीन-प्रौढ युक्तियों द्वारा समझ लेवें। किसी अन्य व्यक्ति की प्रेरणा सिवाय ही कर्म फल भोगनेके विषयमें ऐसे अनेक दृष्टांत विचारवान् मनुष्य विचार सकते हैं। किं बहुना ?

१३—त्रयोदश—अधिकार ।
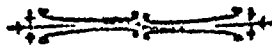
प्रत्यक्ष और परोक्ष, दोनों प्रमाण स्वीकरणीय है ।

प्रश्न—कितनेक कहते हैं कि, पुण्य, पाप, स्वर्ग, नर्क, मोक्ष और पुनर्जन्म इत्यादि कुछ भी नहीं है । वे नास्तिक केवल दृश्यमान पदार्थों ही का अस्तित्व मान कर, मन-इंद्रिय कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकतीं; ऐसा मानते हैं । तथा पंच-इंद्रियका विषयवाला ऐसा एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही स्वीकार करते हैं। सो क्या उनका यह कहना युक्ति-संगत है ?

उत्तर—जो वस्तु दृश्य-इन्द्रिय गोचर-हो वही 'सत्' है और अन्य सब 'असत्'—अविद्यमान है; यह मंतव्य यथार्थ नहीं है । जिसमें पांचों इन्द्रियों का विषय हो वह कौनसी चीज है? यदि कहा जाय कि स्त्री-आदि चीजें पांचों इन्द्रियोंके विषय वाली हैं, तो विचारने की बात है कि, रातके समयमें शब्द और रूपसे समानता रखने वाली परंतु पूर्व परिचित स्त्री आदिसे भिन्न ऐसे

पुरुषादिमें क्या स्त्री–आदि का भ्रम नहीं हो जाता? यदि कहा जाय कि, रातके समयमें तो सब इन्द्रियें, अवबोध की हानि हो जानेसे मूर्च्छित हो जाती हैं, और, उसके लिए स्त्री–भिन्न ऐसी वस्तु–पुरुषमें स्त्रीका–अतद्वस्तुमें तद्वस्तु का–भ्रम हो जाता। तो फिर इससे तो यह सिद्ध हुआ कि, इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान सदा सत्यही नहीं होता,–कभी कभी असत्य भी होता है। तन्दुरुस्त मनुष्य शंखको सफेद समझ कर ग्रहण करता है, परंतु वही मनुष्य, जब काचकामली रोगसे पीड़ित हुआ होता है तब, उसी शंख को अनेक वर्णों वाला, कहने लगता है। मनुष्य का मन जब स्वस्थ होता है तब स्वजनादिको को आदर युक्त दृष्टिसे देखता है और जप मदिरा के नशेसे उन्मत्त हो जाता है तो फिर संबंधियोंको भी नहीं पहचान सकता और माता बहिन विगेरे के साथ भी अश्लील शब्दों का व्यवहार करने लगता है। इन दोनों दृष्टांतोंमें के मनुष्योंकी इन्द्रियां तो वे की वे ही हैं, तो, फिर इतना फरक कैसे पड़ा? इन मनुष्योंका कौन सा ज्ञान प्रमाण? स्वास्थ्य वाली अवस्थाका या विकारी अवस्थाका? जो स्वास्थ्ययुक्त अवस्थाका ज्ञान प्रमाण माना जाय और विकारीका अप्रमाण; तो इन्द्रियां वे की वे ही होने पर यह विशेषता कहांसे आई? कहो कि पूर्व में मन अविकारी था और पीछे से विकारी हो जानेसे इतना भेद पड़ गया तो फिर यह भेद किसमें हुआ? अगर कहा जाय कि यह–भेद मनमें पड़ा; अर्थात् यह भेद मानसिक है, तो प्रश्न होगा

कि, मनतो दिखाई नहीं देता तथा वाणी द्वारा भी प्रकट नहीं किया जा सकता; और जो दृश्य नहीं है वह नास्तिकों के मन्तव्य मुजब 'असत्'–अविद्यमान है तो फिर यह विकार 'मानसिक' है; ऐसा कैसे कह सकते हो? दृश्य पदार्थों ही में जो इन्द्रियां मूर्च्छित हो जाती हैं तो फिर कौन बुधिमान् सब इन्द्रियज्ञान को सत्य ही मानेगा? दिव्य—दृष्टि वाले उपकारी पुरुषोंने जो कुछ कहाहै वही सत्य है।

शांत—चित्त होकर तत्त्व–दृष्टि से विचारना चाहिए कि, तत्त्वज्ञों के कहे हुए–" आनंद, शोक, व्यवहार, विद्या, आज्ञा, कला, ज्ञान, मन, विनोद, न्याय, अन्याय, चोरी, जारी, चार वर्ण चार आश्रम, आचार, सत्कार, वायु, सेवा, मैत्री, यश, भाग्य, बल, महत्त्व, शब्द, अर्थ, उदय, भंग, भक्ति, द्रोह, मोह, मद, शक्ति, शिक्षा, परोपकार, गुण, क्रीडा, क्षमा, आलोच, संकोच, विकोच, लोच, राग, रति, दुःख, सुख, विवेक, ज्ञाति, प्रिय, अप्रिय, प्रेम, दशा, देश, गाम, पुर, योवन, वार्धक्य, सिष्टी, आस्तिक, नास्तिक कषाय, मोष, (चोरीका माल), विषय पराङ्मुख, चातुर्य, गांभीर्य, विषाद, कपट, चिंता, कलंक, श्रम, गाली, लज्जा, संदेह, संग्राम, समाधि, बुद्धि, दीक्षा, परीक्षा, दम, संयम, महात्म्य, अध्यात्म, कुशील, शील, क्षुधा, तृषा, मूल्य, मुहूर्त, पर्व, सुकाल, दुष्काल, विकराल, आरोग्य, दारिद्र्य, राज्यातिशय, प्रतीति, प्रस्ताव, हानि, स्मृति, वृद्धि, गृद्धि, प्रसाद, दैन्य, व्यसन, असूया, शोभा, प्रभाव,

प्रभुता, अभियोग, नियोग, योग, आचरण, आकुल और भाव प्रत्ययांत; इत्यादि अगणित शब्दों को नास्तिक और आस्तिक दोनों समान ही यथार्थ मानते हैं। ये शब्द जीह्वादिवत् शब्दवाले नहीं हैं, स्वर्णादिकी समान रूपवाले नहीं हैं, पुष्पादिकी तरह गंधवाले नहीं है, सक्करादिकी माफक रसवाले नहीं है और पवनादिकी तरह स्पर्शवाले नहीं हैं। परंतु, तालु, ओष्ठ और जीह्वादि स्थानों से बोले जाते हैं, कर्णेन्द्रिय द्वारा इन के वर्णों का ग्रहण किया जाता है, इनसे होने वाले चेष्टादि कार्यों द्वारा विशेष बोध होता है और स्वकीय अभ्याससे उत्पन्न होने वाले फल के ऊपरसे अनुमान कर सकते हैं। ये शब्द अपने विरोधीयोंका नाश करते है और स्वविरोधियोंके उत्पन्न होने के समय अपने नामका शीघ्र ही नाश करते हैं! स्वकीय उच्चारके साथ उत्पन्न होने वाले गुणयुक्त इन शब्दों को सब एक समान ही रीति से उपयोगमें लाते हैं। ऐसे सिद्ध शब्दों का साक्षात्कार भी जो स्वइन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता तो फिर परोक्ष ऐसे पुण्य पापादि वस्तुओं में किसकी इन्द्रियां प्रवृत्त हो सकती है?

१४—चतुर्दश-अधिकार।

परोक्ष प्रमाणकी सिद्धि।

प्रश्न—गत अधिकारसे सिद्ध होता है कि, केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाणको ही मानना और अन्य प्रमाण को नहीं; यह विचार, विवेक स्वरूप नेत्रवालों को सर्व पदार्थकी सिद्धी के लिए, समर्थ नहीं हो सकता। इस लिए सत्य क्या है, सो दिखलाया जाता है।

प्रामाणिक पुरुषोंका कथन है कि, जो वस्तु एक पद द्वारा बोली जा सकती है, वह 'सत्'-विद्यमान कहलाती है; उसका अस्तित्व निश्चित है। दृष्टांत तथा पूर्व अधिकारमें कहे हुए आनंद शोकादि शब्द, तथा काल, स्वभाव, नियति, कर्म, उद्यम, प्राण, मन, जीव, आकाश, संसार, विचार, धर्म, अधर्म, स्वर्ग, नरक, विधि निषेध, पुद्गल, परमाणु, सिद्ध, परमेश्वर इत्यादि शब्दोंमें से किसी भी शब्दको कोई भी बुद्धिमान चेष्टा द्वारा प्रतिपादित कर सके, ऐसा नहीं है। परंतु केवल एक 'सत्पद, द्वारा प्ररूपण करने योग्य है। एक कर्णेन्द्रिय द्वारा इनके वर्ण ग्रहण हो सकते हैं। स्व—स्वभा-

वसे उत्पन्न होने वाले तथाविध फलसे अनुमान करने लायक हैं और केवलज्ञान द्वारा स्वरूप दर्शन करने के योग्य हैं। जो पदार्थ दो पद (शब्द) या अधिक पद द्वारा बोला जाता हो वह 'सत्' विद्यमान होता भी है और 'असत्–नहीं भी। दृष्टांत, जैसे 'वंध्या' और 'पुत्र' ये दोनों वस्तुयें, एक पद द्वारा वाच्य होनेसे 'सत्'–विद्यमान है परंतु 'वंध्यापुत्र' इस प्रकार समस्त दो पद वाच्य वस्तु जगत् में कोइ विद्यमान नहीं। इसी प्रकार 'आकाश–कुसुम' 'मरीचितोय' 'शशशृंग' इत्यादि संयुक्त–शब्द वाच्य कोई पदार्थ नही है। कर्णेंद्रिय द्वारा इनके वर्णोंका ग्रहण होने परभी इन वस्तुयों की 'सत्ता' का अभाव है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इंद्रिय गोचर सब ही पदार्थ सत्य नहीं हो सकते। कितनेक पदार्थ संयुक्त–शब्दों द्वारा बोले भी जाते हैं और उनका अस्तित्व भी होता है। जैसे, गोशृंग, नरेन्द्रकेश, भूमिरुह, गोपति, भूधर इत्यादि समस्त–पद वाच्य; तथा, गो, शृंग, नरेन्द्र, केश, भूमि, रुह, इत्यादि पृथक् पृथक् पद वाच्य भी वस्तु यें विद्यमान हैं।

आँख कान वगेरह इन्द्रीयोंसे समानतया ग्रहण होने वाली वस्तु होने पर भी कपूर और उसके जैसा रंग–आकार वाले लून और सक्कर आदि में, आंख कान भेद नहीं कर सकती। आंख, नाक, कान और जबानसे, यद्यपि सक्कर–कपूरादि वस्तुओंका ज्ञान होता है तथापि उनमेंसे कितनेक विषयोंका ज्ञान जीहासे हुआ

हुआ प्रमाण माना जाता है। स्वर्णादि वस्तुओंमें आंख और कान का ज्ञान काम आता है सही, परंतु उसके निश्चय के लिए केवल इन्द्रियज्ञान काफी नही होता किंतु कसोटी का ज्ञानही प्रमाण माना जाता है। रत्नपरीक्षक लोक, इन्द्रीयोंकी समता होने पर भी, रत्न परीक्षिका नामक पुस्तकके आधार पर, माणिक्य आदि रत्नोंकी किंमतका निश्चय करते हैं। उसकी किंमतमें न्यूनाधिकता करने के लिए, उनकी प्रतिज्ञा ही कारण भूत है। इसी तरह अफिम आदि नसहली चीजों में सब इन्द्रीयां मूर्च्छित हो जाती हैं परंतु उसके खानेसे होने वाली उन्मत्तता ही, उसके विषयमें निर्णय करनेके लिए प्रामाणिक गिनी जाती है। इस लिए सब ही इन्द्रीय-ज्ञान सत्य नहीं हो सकता। औषधी, मंत्र, गुटिका, और अदृश्यीकरण (नेत्रांजन) द्वारा गुप्त रहनेवाले का शरीर लोकोंकी दृष्टि मे नहीं आनेसे वह है ही नही, ऐसा क्या इन्द्रीयां नहीं मानती है? अर्थात् इन्द्रयों से उसका आस्तित्व नही ग्रहण किया जा सकता तो भी वह गुप्त मनुष्य जो वस्तुयें ज्ञाता रखता है उससे उसका अस्तित्व सिद्ध होता है। इत्यादि बातो से परोक्ष की सिद्धि होती है और परोक्षकी सिद्धि हुईतो स्वर्गनरककी सिद्धि भी हो ही जाती है।

प्रश्न—जो वस्तु चेष्टासे न देखी जाय वह मानी भी कैसे जाय?

उत्तर—सर्वज्ञ भगवान् केवलज्ञानसे, जितनी सब् वस्तुयें हैं उन सबको जानते हैं। और अन्य आत्माओं को, उन पदार्थों का अवबोध करानेके हेतुसे जो जो वचन वे कह गये हैं उन को प्रमाण गिनने चाहिये। दुनियामें भी देखा जाता है कि जो बात औरोंको नही मालूम होती वह उसके ज्ञाताको ज्ञात होती है। ज्योतिषी लोक ग्रहण, ग्रहोदय, गर्भ तथा मेघका आगमन वगेरह जानते हैं। चूडामणि—शास्त्रके ज्ञाता बीता हुआ सर्व वृत्तांत कह देते हैं। निदान—वैद्य सब रोगों का निदान कह सकते हैं। परीक्षक लोक सिक्कोंकी परीक्षा करते हैं। पदज्ञ मनुष्य, मनुष्यका पैर ढुंढ निकालते हैं। शाकुनिक जन शुभाशुभ शकुनोंको समझ सकते हैं। सामान्य मनुष्यको इन बातोंका कुछभी पता नहीं लगता। इतने ही से जाना जा सकता है कि, इन्द्रीयों द्वारा कितना ज्ञान हो सकता है? अर्थात् सब मनुष्य परोक्ष पदार्थों को नहीं जान–देख सकते! शीर्फ ज्ञानी ही देख सकते हैं। इन्द्रीयोंके होने पर भी मनुष्य आचार, शिक्षा, विद्या, मंत्र, आम्नाय, साधन, चरित्र, वृत्तान्त और परदेश वार्ता इत्यादि अपने आप नहीं जान सकते परंतु औरोंके उपदेस से जान सकते हैं। इस लिए मानना होगा कि, इन्द्रीयें उसीका ग्रहण कर सकती है जो उनके ग्रहण करने योग्य होता है। जो ज्ञान इन्द्रीयों से परोक्ष होता है वह परोपदेश से शीघ्र समझा जाता है। यह अच्छा है या बुरा है इसका ज्ञान संक्षेपसे या विस्तारसे, अन्य द्वारा ही होता है। मंत्र–बुद्धि,

शुक्ररोग, कफ, पित्त, वात, नारू भ्रम, गुल्म, यकृत, मलाशय, गंमोल, तापाधिक्य, वाला, कपालरोग और गलरोग इत्यादि स्व-शरीरगत रोगों को, सामान्य मनुष्य, अपनी इन्द्रीयों द्वारा नहीं जान सकते परंतु दूसरे के कथनसे तथा औषधादि उपचार द्वारा उसका नाश होने से, रोगके अस्तित्व विषयमें विश्वास आता है। जो वस्तु प्राणी के शरीरके अवयव भूत होती है वह देखी जा सकती है परंतु अमूर्त नहीं देखी जाती। जीव निराकार है अतः उसके गुण भी निराकार ही होनेसे वे किसीके देखनेमें नही आते परंतु ज्ञानीओंके वचनों ही से वे श्रद्धा करने लायक हैं।
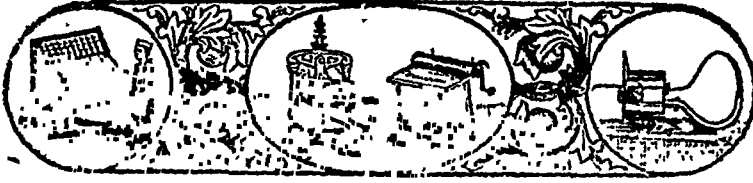
१५—पंचदश—अधिकार।

दिखाई न देने पर भी स्वर्गादि विद्यमान है।

जो कोई वस्तु शरीरके बहारके भाग ऊपर भी आई हुई हो तो भी, जो वह दृश्य—ग्राह्य होगा तव ही मनुष्य उसे, अपनी इन्द्रीयों द्वारा देख सकेगा; अन्यथा नहीं। अग्राह्य वस्तु शीर्फ औरों के कथन से ही माननी होगी। यहां पर दृष्टांत दिया जाता है। किसी मनुष्य के शरीरके पिछले भागमें—पीठ ऊपर या गरदन ऊपर—स्वस्तिक, भ्रमर या तिलका लक्षण हो तो उसे वह, अपनी इन्द्री द्वारा नहीं जान सकता परंतु जब कोई माता या आप्त जन कहता है कि, तेरी पीठ ऊपर अमुक चिह्न है, तब उसका अस्तित्व मानताहै; अपने आप उसे कभी नही देख सकता। इसी तरह स्वर्गादि विद्यामान होने पर भी, इन्द्रिय—ग्राह्य नहीं होनेसे देखे नही जाते। यह नहीं कहना चाहिए कि, जैसे स्वस्तिकादि चिह्नों को देखने वाले तो बहुत होते हैं और नहीं देखने वाला तो मात्र वह एक ही होता है वैसे स्वर्गादिके विषयमें

कहां है ? क्यों कि, स्वशरीर स्थित चिह्नोंको नही देखने वाले मनुष्य समान नास्तिक लोक हैं जो दुनियांमें थोडे हैं और आप्त वचनको प्रमाण मानने वाले अर्थात् परलोकका अस्तित्व स्वीकारने वाले आस्तिक जन, नास्तिकोंकी अपेक्षा बहुत हैं। यह भी नही कह सकते कि, पीठ ऊपर आये हुए चिह्नका जब फल होता है तब उसका निश्चय हो जाता है, ऐसे स्वर्ग-नरकका किसी भी चेष्टा द्वारा बोध नही होता। हिंदुओं के मान्य देव शम्भु, गणेश हनुमान् वगेरह और मुसलमानों के पूज्य पैगंबर, फिरस्ता, पीर इत्यादि, उनकी सेवा-उपासनासे (लोकों के कथन मुजब) उत्पन्न होने वाले फल द्वारा जो जाने जाते हैं सो क्या वे हैं कि, नहीं ? कहा जाय कि वे है तो सही परंतु देवस्वरूप होनेसे, कलिकालके प्रभावसे, प्रायः उन्हें मनुष्य देख नहीं सकते। उनका वास स्थान दूर होनेसे, उस क्षेत्र का मार्ग भी अगम्य है। उनकी सत्ता सिद्ध है परंतु अपने जैसे, यहां रहने वाले मनुष्योंसे वह दिखाई नहीं जा सकती तो इसी तरह, पापके हेतुसे प्राप्त होने योग्य नरकगति की सत्ता भी स्वयमेव विचार लेना चाहिये। और भी मन मे सोचो कि, लंका है या नही ? है, ऐसा तो सबीने सुनाहै, और उसे कौन नही मानता ? परंतु कहा जायकि, हमें यहा बैठे बैठे बतलाओ, तो कोईभी नही बता सकता इसी तरह स्वर्गादि विद्यमान तो है परंतु छद्मस्थ—(अल्पज्ञ) मनुष्य, यहां बैठे बैठे उसे नहीं दिखा सकते।

१६—सोलहवां—अधिकार ।

सगद्गतिके साधन ।

प्रश्न—स्वर्ग मोक्षादि प्राप्त करने के साधन क्या हैं ?

उत्तर—हिंसा, असत्य, चौरी, स्त्री संसर्ग और परिग्रह (पदार्थ ऊपर मूर्छा), इन सबका सर्व प्रकारसे त्याग करने से स्वर्ग—मोक्षादि की प्राप्ति होती है। जगत् प्रसिद्ध अर्हन् भगवान् इन पांच वस्तुओंका त्याग करके ही सिद्ध हुए हैं।

मुमुक्षुओं—मोक्षाभिलाषी श्रमण—मुनियों—में सत्य, शील, क्षमा, उपकारिता, संतोष, निर्दुषणता, वीतरागता, निःसंगता अप्रतिबद्ध चारिता (प्रतिबंध रहित गमनागमन), सज्ज्ञानिता, निर्विकारता, सद्गोप्तिता, निश्छलता, प्रकाशिता, अस्वामिसेविता, अतीदसत्वता, निर्शंकता, अल्पाशनता, त्रिशिष्टता, संसारसंबंधसे जुगुप्सता इत्यादि जो स्वतन्त्र गुण होते हैं वे ही, जब वे मुमुक्षु सिद्ध हो जाते है तब, क्षेत्र के प्रभावसे—अर्थात् सिद्धस्वरूप

शिव हो जाने पर अनंत हो जाते हैं। इसमें केवली भगवान् का वचन प्रमाण है। सेवक को स्वामी के शील का अनुसरण करना चाहिए; यह बात जगत्में प्रसिद्ध है। इसी नियमानुसार, महानुभाव मुनिलोक सिद्धों के गुणोंको प्राप्त करने की इच्छा से; अमूर्त, निराकार, गतद्वेष, वीतराग, निरंजन, निष्क्रिय, गतस्पृह, स्पर्धारहित, बंधनसंधिवर्जित, सत्केवलज्ञान निधान, सुंदर और निरंतर आनंदामृतरसपूर्ण इत्यादि जो गुण सिद्धों के हैं उनका यथाशक्ति अनुकरण करते हैं। यद्यपि सिद्धों के सबगुणों को पूर्णतया सेवन करने के लिए इस भवमें वे समर्थ नहीं हैं तथापि आत्मबल के प्रमाणमें सिद्ध के गुणों का आश्रय अवश्य करते हैं। दृष्टान्त के लिए—

सिद्ध अमूर्ततया प्रकाशित हैं; साधु शरीर ऊपर ममत्व रहित होते हैं। सिद्ध अमूर्त हैं; साधु शरीर के संस्कारका तथा सत्कारका निषेध करते हैं। सिद्ध निराहार हैं; साधु भी कभी कभी-पर्वादि दिनोंमें आहारका त्याग करते हैं। सिद्ध द्वेष से रहित हैं; साधु सर्व जीव ऊपर रुचि पूर्वक मैत्री धारण करते हैं। सिद्ध वीतराग हैं; साधु बन्धुओं के बन्धन से मुक्त हैं। सिद्ध निरंजन हैं; साधु प्रीति-विलेपनादि से शून्य हैं। सिद्ध निष्क्रिय हैं; साधु आरंभ-सरंभ से दूर रहते हैं। सिद्ध निःस्पृह हैं; साधु किसी प्रकारकी आशा नहीं रखते। सिद्ध अस्पर्धक हैं; साधु भी

ईर्ष्यायुक्त वादविवाद नहीं करते। सिद्ध निर्बन्धन हैं; साधु स्वेच्छा-विहारी हैं। सिद्ध निःसंधि हैं; साधु परस्परकी मित्रता से विरक्त हैं। सिद्ध केवलदर्शी हैं; साधु जगत्-स्वभावकी सब अनित्यता देखने वाले हैं। सिद्ध आनंदसे परिपूर्ण हैं; साधु अंतःकरण को शुद्ध रखते हैं, और संतोषपूर्वक समभावका सेवन करते हैं। इस प्रकार जो जो गुण शास्त्रोंमें, सिद्धोंमें होने लिखे हैं उनको मुमुक्षु लोक यथाशक्ति स्वीकार करनेका प्रयत्न करते हैं और क्रमसे उन्हें प्राप्त कर सिद्ध बन जाते हैं। अन्य गृहस्थगण भी जो दुष्कर्म की शांति के लिए अपनी परिस्थिति के अनुकूल उन गुणों को देशतः—अंशतः, सर्वथा नहीं—अनुसरते हैं वे भी अनुक्रम से सिद्धावस्था के निकट पहुंच जाते हैं।

प्रश्न—गृहस्थ इन गुणोंका चिरकाल तक देशतः भले ही आश्रण करें परंतु जिस काममें जीवहिंसा होती है उसका आश्रय जो किया जाता है सो क्या ठीक है?

उत्तर—गृहस्थ प्रायः स्थूलबुद्धि, अधिक चिंतायुक्त, आरंभ सहित और परिग्रहमें आदर बुद्धि वाले होते हैं। इस से सूक्ष्मदृष्टि द्वारा अवलोकन करनेमें उनकी बुद्धि कुंठित रहती है, आलंबन विना तत्त्वत्रय-देव, गुरू और धर्म-में वे विमोह पाते हैं। इस लिये शुभ के निमित्त, भले ही निरंतर साकार देवपूजा, साधुओं की सेवा और दानादि धर्मक्रिया किया करें। उत्तम कुल और आ-

चार की रक्षा के निमित्त गृहस्थ लोक पूर्वकालमें सब प्रकारसे धर्मोंका सेवन करते थे इस लिये अब भी गृहस्थों को आत्मसंपदा निमित्त द्रव्य और भाव से दोनों प्रकार के धर्मोंका आश्रय लेना चाहिए। गृहस्थ प्रायः सावद्य-पापमय प्रवृत्तिमें रक्त, निरंतर ऐहिक अर्थप्राप्तिमें आसक्त, कुटुंब के निर्वाह के लिए अच्छे बुरे व्यापारोंमे आदरयुक्त, पराधीनता से खिन्न और मनमाने पुण्यकार्यमें उद्यमवंत होते हैं। वे स्वरुचि अनुसार ही प्रवृत्त होते हैं, इस लिए अपने दिल को खुश करने के लिए जो कुछ पुण्यकार्य किया जाय सो ही अच्छा है। ये गृहस्थ मनमें ऐसा विचार के द्रव्यधर्म करते हैं कि, जैसे यह मन, और कामों को द्रव्य द्वारा करवाकर संतुष्ट होता है वैसे ही द्रव्य द्वारा कोई धर्म कार्य करने से भी चित्त प्रसन्न होगा। गृहस्थों के सब व्यापार द्रव्य ही से सिद्ध होते हैं इससे धनाढ्यों को धन द्वारा ही स्वधर्म को साधन करने की स्वाभाविक इच्छा होती है; और वह युक्त भी है। क्यों कि जिसका जिस विषयमें सामर्थ्य होता है उसी सामर्थ्य द्वारा वह अपना इच्छित सिद्ध करता है। अतः द्रव्य-धर्म करते हुए गृहस्थो के मन को, जिस प्रकार संसार कार्य से पीछे हट हो उसी प्रकार, सालंबन-साकार देवपूजा, साधुसेवा और दानादि-द्रव्य-धर्म-पुण्य कृत्यमें वे मन (इच्छा) रक्खें। स्वइन्द्रियों को सांसारिक प्रवृत्तियों से रोक कर, थोड़ा बहुत भी जिस से मन स्थिर हो सके ऐसे देव पूजादि कार्य का आश्रय लेना आवश्यक है। जब तक मन, अनाकार पदार्थका चिंतन-

सिद्ध परमात्माका निरालंबन ध्यान-करनेमें समर्थ नहीं होता और साधु-कुसाधुका निश्चय कर लेने योग्य ज्ञानका उदय नहीं होता तब तक निश्चयदृष्टि कुलीन पुरुष को स्वव्यवहार को रक्षा करनी चाहिए। निश्चय ऊपर दृष्टि रख कर इस तरह व्यवहार को रक्षित रखने वाला गृहस्थ औरों से निंदा नही जाता। जब निराकार पदार्थमें भी चित्त स्थिर रह सकने लगे तब सिद्ध-परमात्माका निरालंबन ध्यान करना चाहिए। उसे साधने के लिए साधु और गृहस्थ प्रमुखों को आत्मज्ञानमें प्रयत्न करना चाहिए। ऊपर जो द्रव्य और भाव इस प्रकार से धर्मका उल्लेख किया हुवा है वह सब निर्वाणधाम-मोक्षरूप महल-की द्वारभूमि (मैदान) को प्राप्त करने के लिये उत्तम यान (स्वारी) समान है। और आत्मज्ञान जो है सो दरवाजे पर पहुंचने के बाद निर्वाण धाम के अंदर प्रवेश कराने के लिए पादविहार (पैदल चलने) की सदृश हो कर महात्माओं को शिवालयमें वास करा देता है। अर्थात् आत्मज्ञान यह परमधर्म है जिसके साधन से मोक्ष की प्राप्ति होती है। आत्मज्ञानमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र प्रमुख सर्व गुणसमूह होता है। आत्मज्ञान उत्कृष्टतया जयवान् है क्योंकि इसमें ज्ञानादि शुद्धि अनंत है इसके होने से अनंत चतुष्टय-अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य और अनंत सुख-प्राप्त होता है। जैसे आकाशको संपूर्णतया देखनेमें, वैसे इस अनंत चतुष्टयका पार पानेमें सर्वज्ञ सिवाय किसीका ज्ञान, सब प्रकार से समर्थ नहीं है।

१७—सत्तरहवाँ—अधिकार.

प्रतिमा पूजन से फल प्राप्त होता है।

प्रश्न—परमात्माकी प्रतिमाका पूजन करने से पुण्य की प्राप्ति होती है; यह कैसे माना जाय ? अजीवकी उपासना करने से फल-सिद्धि कैसे हो सकती है ?

उत्तर—अजीवकी सेवा करने से कुछ फल नहीं होता यह कथन ठीक नहीं है। क्यों कि, जब जो आकृति देखी जाती है तब उस आकृति के संबंधवाले धर्म का भी प्रायः स्मरण-चिंतन मनमें अवश्य होता है। सर्वांगसुंदर और सोलह शृंगार से सजी हुई पुतली-स्त्री की मूर्ति को देख कर मनुष्यों के मन में बहुत कर के मोह-भाव का उदय हो ही जाता है। काम के आसनों की स्थापना से कामीजन कामक्रीड़ा संबंधी विकारों का अनुभव करते हैं। योग के आसनों को देख कर योगीजनों की इच्छा योगाभ्यास तरफ लगती है। भूगोल के देखने से वास्तविक स्थलका ज्ञान

होता है। लोकनालिका के चित्र से लोक की रचना का ज्ञान होता है। कूर्मचक्र, अहिचक्र. सूर्यकालानलचक्र आदि चक्रों के अवलोकन से यहाँ बैठे बैठे तत्संबधी बातों का बोध होता है। शास्त्र संबंधी अक्षरों की स्थापना करने से उसे देखने वाले को शास्त्र की बात समझमें आ जाती है। नंदीश्वरद्वीप तथा लंका आदि टापुओं के नकशों को देखने से उन उन स्थलों का ज्ञान होता है। इस तरह स्वदेवकी प्रतिमा भी, देवके उन उन गुणों के स्मरण कराने में सहायभूत होती है। जो वस्तु साक्षात् दृश्य न हों उसकी स्थापना करना यह जगत् प्रसिद्ध और अनादि सिद्ध मनुष्य स्वभाव है। निजके पतिकी अनुपस्थितिमें पतिव्रता स्त्रीयें पतिकी प्रतिमा—फोटू—का दर्शन करती हैं। रामायणमें सुना जाता है कि, रामचंद्रजी जब वनवासमें थे तब उनका छोटा भाई भरत,—जो कि अयोध्याका राज्य करता था—रामचंद्रजीकी पादुकाको प्रणाम करता था! सीता भी—जब रावण के बगीचेमें रही हुई थी तब,—राम की मुद्रिकाका आलिंगन कर, राम के सहवास से उत्पन्न होने वाले सुख समान, सुख प्राप्त करती थी। और रामचंद्र भी सीताका मौलिरत्न को प्राप्त कर सीता के मिलने जितना आनंद पाते थे। इन दृष्टांतोंमें किसी के भी शरीरका आकार नहीं था तो भी उन अजीव वस्तुओं द्वारा तथा प्रकारका सुख मिलता था तो फिर परमात्माकी प्रतिमा सुख के लिए

कैसे न हों ? पांडवों के चरित्रमें यह प्रसिद्ध बात है कि, द्रोणा-चार्य की प्रतिमा के प्रभावसे लव्य नाम के भीलने अर्जुन के जैसी धनुर्विद्या सीखी थी । चंचादिक-खेतोंमें धानकी रक्षा के लिए कृषाण लोक जो मनुष्याकार पुतला बनाते हैं-अजीव वस्तु होनेपर भी अनाजकी रक्षा करते हैं । कहा जाता है कि, अशोकवृक्ष की छाया शोकका नाश करती है, कलि (बहेडा) की छाया कलह कराती है, अजारज-बकरीकी खुरी से उडती हुई धूल-वगैरह पुण्यकी हानि के लिए होती है, अस्पृश्य-चांडाल आदि-मनुष्यों की छाया भी जो लंघी जाय तो वह भी पुण्य नाश करती है, सगर्भा स्त्री की छाया, उसे उल्लंघने वाले भोगी मनुष्य के पौरुष का नाश करती है और महेश्वरकी छाया को लंघने वाले के ऊपर ईश्वरका कोप होता है । इस प्रकार बहुत चीजें अजीव होकर मनुष्य के सुख दुःखकी हेतुभूत होती हैं तो फिर देवाधिदेवकी पवित्र प्रतिमा भी अजीव होकर सुखकी देने वाली क्यों न हो ? यह भी नहीं कहना चाहिए कि, परमेश्वर के दर्शन से भक्त के पापका हरण होता है परंतु प्रतिमाकी जो पूजा करनेमें आती है सो तो-अजीव होने से-क्या फल कर सकती है ?, क्यों कि प्रतिमा अजीव होने पर भी उसको पूजने से पुण्य फल जरूर पैदा होता है । जिस पदार्थकी, जिन जिन अवस्थायें युक्त,-गुण विशिष्ट प्रतिमा-आकृति चित्तमें होती है, उसके वे वे गुण उस प्रतिमा द्वारा

संपादन हो सकते हैं। लोकोमें माना जाता है कि, ग्रहों की प्रतिमा का पूजन करने से तत्सबंधी फल मिलता है। सतीओं की, क्षेत्राधिपकी, पूर्वजोंकी, ब्रह्माकी, मुरारिकी, शिवकी और शक्तिकी स्थापना को मानने-पूजने से हित और न मानने-पूजने से अहित होता है। स्तूप भी उसी प्रकारके फलाफल के कारण होते हैं। रेवंत, नागाधिप, पश्चिमेश और शीतलादि की प्रतिमाका पूजन करने से भी कार्यकी सिद्धि मानी जाती है और कार्मण तथा आकर्षण (जादू टोना) जानने वाले मनुष्य, मदनादिकें निर्जीव पूतले पर, जिसका नाम ले कर जो कुछ विधि करते हैं उस विधि से वह मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है। इसी प्रकार इष्ट-देवकी प्रतिमाकी, परमात्माका नाम ग्रहण पूर्वक पूजा करने वाला कुशल मनुष्य, ज्ञानमय प्रभुको संप्राप्त करता है। जैसे कोई स्वामी, अपने नोकरों को निजकी प्रतिमाका बहुमान करने वाले जानता है तो उनके ऊपर वह खुश होता है वैसे परमात्माकी प्रतिमा का पूजन भी, पूजक को परमेश्वरकी प्रसन्नता का प्रदायक होता है!

प्रश्न—ऊपर दिये हुए दृष्टांत और दार्ष्टांतिकमें महान् अंतर है। जिन देवादि का ऊपर जिकर है वे सब रागी और पूजा के अर्थी हैं परमात्मा तो वीतराग हैं अतः यह कथन कैसे युक्तिसंगत हो सकता है?

उत्तर—वीतराग की सेवा तो अधिक फल के देने वाली

है। निरभिलाषी आत्मा की उपासना ही परमार्थ की सिद्धि के लिए होती है। स्पृहा रहित सिद्ध पुरुष की सेवा करनेसे जैसे इष्ट-लब्धि होती है वैसे पूजा के अनभिलाषी परमात्मा की पूजा भी परमात्मपद की देने वाली बनती है।

प्रश्न—सिद्ध पुरुष तो साक्षात् वर देता है परंतु परमेश्वर की प्रतिष्ठित प्रतिमा तो अजीव होती है इससे वह क्या दे सकती है?

उत्तर—पूजनीय पदार्थ के विषयमें यह विचार करना योग्य नहीं है। ज्यो पूज्य होता है वह अवश्य पूजा जाता है। लोक उसकी अनेक तरहसे पूजा करते हैं। दक्षिणावर्त शंख, कामकुंभ, चिंतामणि और चित्रावल्लि आदि वस्तुओंमें कौनसी इन्द्रियाँ हैं जो, उनके पूजक को इच्छित देती हैं? जैसे ये वस्तुएँ अजीव हो कर स्पृहा रहित हैं तो भी स्वभाव ही से प्राणियों का वाञ्छित पूर्ण करती है वैसे परमेश्वर की प्रतिमा भी पूजक को पुन्य के लिए होती है।

प्रश्न—दक्षिणावर्तशंख आदि पदार्थ अजीव होने पर भी विशिष्ट जाति के और दुर्लभ होते हैं अतः उनका आराधन करने वाले मनुष्यों का वे इच्छित करते हैं। परंतु परमेश्वर की प्रतिमा वैसी नहीं। वह तो सर्वत्र सुलभ ऐसे पाषाणकी बनी हुई होती है अतः उसमें पूजक की अभीष्ट सिद्धि करने की शक्ति

नहीं हो सकती। इस लिये यह कथन सम्यक् नहीं प्रतीत होता।

उत्तर—जो वस्तु मूल-स्वभाव से गुणयुक्त प्रतीत हो उस करते भी पंचकृत-जनसमुदायकी मानी हुई-स्थापित की हुई-वस्तु विशेष गुणवाली गिनी जाती है। उदाहरण तथा—कोई राजपूत्र वीर्यादि विशिष्ट गुणयुक्त होता है तो भी किसी कारण वश उसको राज्य न देकर, अन्य किसी साधारण कुलमें जन्मे हुए सामान्य मनुष्य को, उसके पुण्य के योग से प्रामाणिक पंचलोक राज्य उपर विठलाते हैं और वह राजा, मूल राजवंशीय के उपर भी हुकम चलाता है। यदि उसकी आज्ञाका पालन न किया जाय तो नंद राजा की तरह शिक्षाका पात्र बनना पड़ता है! विचारना चाहिए कि, क्षुद्रकुलमें उत्पन्न हुआ हुआ परंतु पंचो द्वारा माननीय माना हुआ होने से, वह साधारण राजा सेवा करने योग्य हो जाता है। इसी तरह परमेश्वर की प्रतिमा प्रामाणिक पंचो (जनसमूह) द्वारा पूजित-स्थापित होने से, पृथ्वी ऊपर विशेष तया पूजनीय होती है। वरराजा, महाजन, दत्तपुत्र और ऐसी ही अन्य वस्तुएं जिन को, उनके भाग्य की प्रेरणा से, पंच संस्थापित करते हैं वही मान्य होती हैं। वैसे, पूज्यनाम कर्म के प्रभाव से जो परमेश्वर की प्रतिमा स्थापित की जाती है वह भी अवश्य पूजनीय होती है।

प्रश्न—उपर जिन पदार्थों का उल्लेख किया है वे सब आकारयुक्त होने से, उनकी आकृति को हृदयमें धारण कर, उनके बिंब (प्रतिमा) की जो पूजा की जाती है सो तो युक्त है परंतु परमात्मा तो निराकार तथा प्रसिद्ध है अतः उनका बिंब बनाकर किस तरह पूजा जाय? ऐसा करने से तो, अतद् वस्तुमें तद्ग्रहका—भगवान् भिन्न वस्तुमें भगवान् को मानने रूप मिथ्यात्वका—दोष कैसे न लगे?

उत्तर—निराकार भगवान् का जो बिंब है वह अवतार समय की आकृति है। अर्थात् भगवान् का संसारमें जो अंतिम अवतारथा उसीकी स्थापना प्रतिमामें की जाती है। उस अंतिम जन्मकी अवस्थाओंमें से जिस को जो रुचिकर लगती है उसीका प्रतिमामें आरोप कर, पूजक जन अपने इष्टकी सिद्धि के लिए पूजा करते हैं।

१८—अठारहवाँ अधिकार.

निराकार सिद्ध भगवान्की प्रतिमा भी, साक्षात् सिद्ध के समान, अपने चित्तमें चिन्तित आशाको पूर्ण करती है इसमें कोई सन्देह नहीं. स्थापना की कल्पना अपने चित्तसे होती है, फिर चाहे वह (स्थापना), विद्यमान वस्तुकी हो या अविद्यमान वस्तुकी. सब स्थापनाओं की सेवा करते समय, जैसे अपने भाव होते हैं, वैसा फल मिलता है, इसमें सन्देह नहीं. लोकमें भी निराकार वस्तुका आकार दिखलाया जाता है, जैसे कि, यह भगवान्की आज्ञा है, इसका जो उल्लङ्घन करता है वह साधु नहीं, और, जो उल्लङ्घन नहीं करता वह साधु है. आम्नाय-(आगम अथवा मन्त्रशास्त्र) शास्त्रमें वायु-मण्डल और आकाश-मण्डलकी आकृति खींच कर दिखलाई जाती है. विचार शास्त्रमें भी स्वरोदयके पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पांच तत्त्व, आकृति खींचकर बताये जाते हैं. इन दृष्टान्तोंमें जैसे निराकार वस्तुओं का आकार बताया जाता है ऐसे ही निराकार सिद्धों की आ-

कृति (प्रतिमा) हो सकती है. और भी देखिये, लोकमें पह-
ले जितने महात्मा विद्वान् हो गये हैं उन्होंने निराकार
वर्णों को अपने चित्त की कल्पना से, यह 'क', यह 'ख',
इस तरह प्रत्येक को नाम दे कर साकार बनाया है. यदि
ऐसा न होता और वर्ण नियत होते तो सब की आकृति समान
होती पर ऐसा नहीं है, वर्णाकृति भिन्न भिन्न है, समान नहीं.
विश्वमें जितने देश हैं, उनमें सर्वत्र वर्णाकृति जुदी जुदी है परन्तु
पढने के समय, उपदेश एकसा होता है और कार्य भी समान होता
है. इन सब लिपियों को कोई मिथ्या नहीं कह सकता. जिन लो-
गोंमें जो लिपि प्रचलित है, उसी के द्वारा वे अपना काम करते
हैं. अधिक क्या कहें. जिस प्रकार बुद्धिमानोंने अपना गुप्त आ-
शय समझाने के लिये, निराकार अक्षरकी आकृति बनाई और
उसकी स्थापना भी जुदी जुदी की है; जिस प्रकार—राग भी
शब्द—रूप हैं अतएव निराकार हैं तो भी उन की साकार स्थापना,
रागमाला नामक पुस्तकमें की है इसी प्रकार सत्पुरुष, निराकार पर-
मेश्वर की आकृतिकी कल्पना करते हैं और जिस जिस शुभ आ-
शय से उसकी पूजा करते हैं, उनके वे आशय, प्रायः सभी
सफल होते हैं. परमेश्वर अलिप्त है, उसका जैसे पूजा से कोई
सम्बन्ध नहीं, वैसे ही निन्दासे भी नहीं. किन्तु उसकी पूजा कर-
नेवाले और निन्दा करनेवाले खुद तदनुसार फल पाते हैं. उत्तम-

य दीवाल पर, कोई मनुष्य, मणि फेंके अथवा पत्थर फेंके तो वे दोनों, फेंकनेवाले की तरफ लौट आते हैं, दूसरे तरफ नहीं जाते. कोई मनुष्य पृथ्वीपर खड़ा हो कर सूर्यके सामने धूलि फेंके अथवा कपूर फेंके तो वह फेंकनेवालेके ही सामने आवेगा, सूर्यकी ओर या आकाशकी ओर नहीं जायगा. सार्वभौम राजाकी कोई स्तुति करे तो उसका फल स्तुति करनेवाले को मिलेगा और कोई निन्दा करे तो उसका फल, जन-समूहके समक्ष, उस निन्दकको ही मिलेगा. सार्वभौम राजामें निन्दा अथवा स्तुतिसे कोई न्यूनाधिकता नहीं होती. इसी प्रकार परमेश्वरको स्तुतिसे कोई लाभ अथवा निन्दासे कोई हानि नहीं है. जो अपथ्य आहार करेगा वह दुःखी और जो पथ्य आहार करेगा वह सुखी होगा, इससे आहारकी वस्तुओंको कोई हानि-लाभ नहीं. सारांश यह है कि सिद्ध-परमात्माकी पूजा, पूजा करनेवाले के आत्मा को लाभकारिणी है.

१९ उन्नीसवाँ अधिकार।
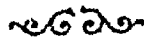
प्रश्न-सिद्ध-परमात्माकी पूजा, पूजा करने वाले को फल देती है, यह कहना ठीक है, परन्तु चिन्तामणि आदि पदार्थ, अपनी पूजा करने वालोंको जैसे तत्काल यहीं फल देते हैं, वैसे परमेश्वरकी प्रतिमाकी पूजा, तुर्त यहीं फल नहीं देती, इसका क्या कारण?

उत्तर-इस विषयका विचार स्थिर चित्त से करना चाहिये. जिस वस्तुका जो समय फल देनेका होता है, उसी समयमें वह वस्तु फल देती है. यहां दृष्टान्त दिये जाते हैं; गर्भके प्रसवका काल प्रायः नव महीनेका है, पहले नहीं। कोई मन्त्र-विद्या लाखके जपने पर और कोइ करोड़ के जपने पर फलती है। वनस्पतियें जो अपने समय पर फलती हैं, शीघ्रता से नहीं. चक्रवर्ती अथवा इन्द्र आदिकी की हुई सेवा अपने समय पर ही फल देती है. पारा अपने समय पर सिद्ध होता है, साध्यमान-दशामें नहीं, और जब सिद्ध होता है तभी गुण करता है. देश-संबन्धी अन्य व्यावहारिक

कार्य भी, अपने समयके पूरा होने पर ही सिद्ध होते हैं. उसी प्रकार यहाँ किये हुए पूजा-आदिका पुण्य, अपने समय पर-दूसरे जन्ममें फल देता है. इस लिये फल देने वाले पदार्थोंके विषयमें दक्ष पुरुषोंको उत्सुकता नहीं रखनी चाहिये. चिन्तामणी आदि पदार्थ, ऐहिक हैं और ऐहिक फल-तुच्छ फल-देने वाले हैं, अतः वे पर-भवमें नहीं लेकिन इस मनुष्य-भवमें-जिसका कि समय प्रायः अल्प है-फल देते हैं. परन्तु पूजा के पुण्यसे होने वाला फल, बड़ा होता है इस लिये वह (फल) बहुत काल तक भोगने योग्य होता है, और इतना बड़ा काल, देवादि-सम्बन्धी जन्मान्तरके बिना नहीं वर्तता अतएव इस (पूजादि के) पुण्यका फल, प्रायः अन्य जन्म धारण करने पर जीव के उदयमें आता है. यदि इस जन्ममें पुण्यका फल उदयमें आवे तो जल्द नष्ट हो जाय क्यों क मनुष्यकी आयु प्रायः अति तुच्छ होती है और मनुष्य-देह, विनश्वर है इसलिये इस जन्ममें इतने बड़े पुण्यका फल भोगते हुये, बीचमें ही मृत्यु हो जाय तो उसके टूटनेका भय रहता है. सुख के बीचमें दुःखकी उत्पत्ति होना, बड़े भारी दुःखका कारण है-अर्थात् मृत्यु के समान अत्यन्त भय देने वाली कोई वस्तु नहीं, जिसका कि पूजा के महत् फलको भोगते हुये प्राप्त होना उचित नहीं है. सारांश, पूजाका फल प्रायः अन्य जन्ममें फलता है. जिस प्रकार अनेक परिश्रमों से प्राप्त की हुई वस्तु, बहुत समय तक, अ-

नेक प्रकार से उपभोगमें आती है तो भी उसका क्षय नहीं होता उसी प्रकार पूजा आदि के पुण्यको भोग चुकने पर भी वह प्रायः दूसरे जन्ममें उदयमें आता है. अति उग्र पुण्य, साक्षात् यहीं फल देता है. देखिये, लोकमें भी कहा जाता है कि जो सच बोलता है वह चाहे जैसे दिव्य-(भयङ्कर प्रतिज्ञा) में काञ्चन के सदृश शुद्ध निकलता है. जिस प्रकार किसी शुद्ध, सिद्ध-पुरुषको अथवा साधुको अल्प भी दिया जाय, तो उस से सब मनोरथ सिद्ध होते हैं अर्थात् वह अल्प दान, इहलोक-परलोक-सम्बन्धी सम्पूर्ण सुखोंका कारण हो कर, संसार के बन्धन से छुड़ानेवाला होता है, और जैसे किसी सर्वोत्तम राज-पुत्र आदिको किसी मौके पर, जरा भी किसीने कुछ दिया हो, तो वह देना, उसकी इष्ट-सिद्धिके लिये होता है अधिक क्या कहा जाय, शत्रुकी तरफ से मिलते हुये मरणान्त कष्टमें उसकी रक्षा करता है; उसी प्रकार किसी समय एकाधबार पूजा आदिसे महत्पुण्य उपार्जन किया हो, तो वह, इहलोक तथा परलोकमें सद्य सुखकी परम्परा प्राप्त करनेमें कारण बन जाता है. शालिभद्र के जीव के सदृश अथवा चोर के सदृश, किसी पुरुष के द्वारा उपार्जित, अति उग्र पुण्य अथवा पाप, अनेक पुरुषों के भोगका कारण होता है. जैसे, राजाकी सेवा करनेवाला, परिवार-सहित सुखी होता है और राजाका अपराध करने वाला, परिवार-सहित मारा जाता है.

प्रश्न—यदि इस प्रकार परमेश्वरकी पूजा आदिका पुण्य सब तरह के स्वार्थोंका साधक है, तो जनसमूह उसीका आदर करें; परमेश्वर के नामको जपनेमें क्यों प्रवृत्ति की जाय ?

उत्तर—महापुरुषोंने ऐसी योजना करनेमें विवेक ही किया है. गृहस्थ लोग—जो कि समर्थ हैं—वे द्रव्य और भाव—दोनों प्रकारकी पूजाके अधिकारी हैं. परन्तु जो महा योगी, द्रव्य-परिग्रह-के विना इस संसारमे सदा विराजमान हैं, उनके लिये परमेश्वरका नाम—स्मरण ही उचित है, उसीसे उनका सब स्वार्थ सिद्ध होता है. जहरीले जीवके काटनेसे मूर्च्छित हुए जीवका जहर, औरोंके किये हुये गारुड—हंस—जांगुली मन्त्र के जपसे जैसे उतर जाता है वैसे ही तत्त्वको न जानने वालोंका पाप भी परमेश्वरके नाम—स्मरण से नष्ट हो जाता है. दुसरी एक बात लोकमें यों प्रसिद्ध है,—हुमाय नामक पक्षी, अस्थि भक्षी (हड्डी खानेवाला) है तथापि वह हमेशा जीवकी रक्षा करता है, जब वह उडता हो तब उसकी छाया जिस मनुष्यके सिर पडे, वह मनुष्य, राजा हो जाता है. इस दृष्टान्तमें हुमाय पक्षी, यह नहीं जानता कि, मैं अमुक मनुष्यके सिर पर छाया करता हूं और वह मनुष्य भी—जिसके कि मस्तक पर छाया पडी है—नहीं जानता हि मेरे सिर पर हुमाय पक्षी छाया करता है, इस तरह दोनों अनजान हैं तौभी हुमाय पक्षीकी छाया के माहात्म्यके उदयसे, दरिद्रताके हरने वाला राज्य, उस मनुष्यके

उदयमें आता है—अर्थात् वह राजा हो जाता है. जैसे इस दृष्टान्त में दोनोंके अनजान होते हुये भी सिद्धि प्राप्त होती है, वैसे ही परमेश्वरके नाम-स्मरणसे पाप क्यों न दूर हो—अर्थात् दूर होवे ही पापके दूर होने पर, आत्मा सर्वांशसे शुद्ध होता है. आत्म-शुद्धि होनेसे परमात्म-बोध-उत्कृष्ट आत्मज्ञान होता है. आत्मज्ञान होने से किसी प्रकारका कर्म-बन्ध नहीं होता बल्कि कर्मोंका नाश होता है. कर्म-नाशसे मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त होती है. मोक्ष-दशामें अक्षय स्थिति, अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-वीर्य, अनन्त-सुख और एक स्वभावता होती है अर्थात् सद्‌ज्योति जागृत होती है.
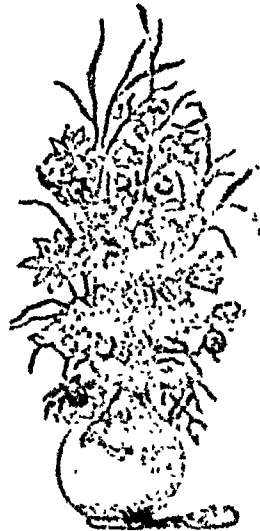
२०—बीसवाँ-अधिकार ।

प्रश्न—मुक्तिके बिषयमें सबका कथन, एकसा नहीं होता क्योंकि ऊपरके अधिकारमें कहा गया है कि आत्म-ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती-आत्मज्ञानसे मुक्ति होती है; और वैष्णव, विष्णुसे; ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मसे; शैव, शिवसे तथा शाक्त, शक्तिसे मुक्ति होना बतलाते हैं; इनके मतसे आत्म-ज्ञान मुक्तिका कारण नहीं-अर्थात् आत्म-ज्ञान हीसे मुक्ति होती है, ऐसा निर्णय नहीं. ऐसी अवस्थामें, यह निश्चय करना कि आत्मज्ञानसे मुक्ति होती है, क्या विचारणीय नहीं है ?

उत्तर—वैष्णव आदि, लोक-रुढिको लेकर विष्णु वगैरह को जुदा जुदा समझते हैं परन्तु वास्तवमें, विष्णु आदि शब्दोंके द्वारा यह आत्मा ही कहा जाता है. आत्माको केवलज्ञान होता है तब सम्पूर्ण लोक-अलोकका ज्ञान, उसे होता है, ज्ञान यही आत्मा है, ज्ञान-द्वारा सर्वत्र व्याप्त होनेके कारण आत्मा ही विष्णु है. अपना शुद्ध आत्म-भाव-जिसे कि परब्रह्म कहते हैं,

उसकी भावना करनेके कारण आत्मा ही ब्रह्म है. शिवका अर्थ है निर्वाण (मोक्ष), उसके प्राप्त करनेसे और शिवका कारण होनेसे आत्मा ही शिव है. अपने आत्मवीर्यको—आत्मशक्तिको विकसित करनेके कारण आत्मा ही शक्ति है. इस तरह विष्णु आदि शब्दोंके द्वारा आत्मा ही कहा जाता है और आत्मज्ञानसे ही मुक्ति होती है. दूसरे किसी पदार्थसे मुक्ति नहीं मिल सकती, इस तत्त्वका हृदयमें चिन्तन करना चाहिये. यदि आत्मज्ञानसे मुक्ति न होती हो, और विष्णु आदिसे होती हो तो वैष्णवादि साधु और गृहस्थ, विष्णु आदिकी पूजा और जपा करें परन्तु तप, संयम, असङ्गता, राग–द्वेषका निवारण, पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्ति, ध्यान और आत्म–ज्ञान इत्यादिको किस लिये करते हैं ? यदि यह कहा जाय कि तप, संयम आदि करना ही विष्णु वगैरहकी सेवा है तो वह (तपआदि) किनसे प्रवृत्त हुआ—इन साधनोंको किन्होंने शुरु किया ? यह नहीं कह सकते कि विष्णु आदिने शुरु किया क्योंकि उन्हें न वाणी है और न हाथ, जिनसे कि वे दूसरोंको समझा सकें. यदि विष्णु वगैरहके ध्यान करने वाले योगियोंसे यह प्रवृत्ति हुई है, तो उन योगियोंने उसे किनसे जाना ? कहा जाय कि अध्यात्म योग से उन्होंने जाना है, तो फिर यह प्रश्न होता है कि वह अध्यात्मयोग किसने चलाया ? विष्णु आदि तो चला

नहीं सकते, क्यों कि वे निरंजन और निष्क्रिय हैं। तो फिर अध्यात्मयोग किससे प्रकट हुआ? कहना होगा कि आदि योगियों से और उन आदि योगियोंने केवल आत्मज्ञान ही से अध्यात्म-योग प्राप्त किया है अन्य किसी से नहीं। अर्थात् निरिन्द्रिय, निष्क्रिय, निरंजन और एक स्वरूप ऐसे विष्णु-आदि से नहीं। स्व-आत्मा ही से-सम भाव भावने से, रागद्वेष जाने से, अपूर्व आत्मलाभ से और सर्व द्रव्योंको यथास्थित देखने से-जो-ज्ञान-बोध होता है वही अध्यात्मयोग है। इस प्रकार अध्यात्मयोग स्वतः ही सिद्ध है। ऐसे आत्मज्ञान ही से मनुष्यों की मुक्ति होती है। विष्णु आदि और कोई मुक्तिका हेतु नहीं है। इस लिए आत्मज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिए। 'स्वभाव से मुक्ति होती है' ऐसा जो कहा जाता है उसका भी यही मतलब है। 'स्व' यांने आत्मा, उसका जो 'भाव' याने लाभ, वह स्वभाव कहा जाता है। 'भाव' शब्द, प्राप्ति अर्थवाले 'भू' धातु से बना है इसलिए 'भाव' शब्दका 'प्राप्ति' अर्थ करना ही योग्य है। ऐसा करने से 'स्वभाव' का अर्थ आत्म-प्राप्ति-आत्म-लाभ-आत्मज्ञान ऐसा होता है; और आत्मज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है, यह निश्चित है। इसलिए सब मुमुक्षुओंको आत्मज्ञान की प्राप्ति करनेके लिए प्रयत्न करना चाहिए। ऊँचे दरज्जे के महात्मा-ओंने मुक्तिका कारण आत्मज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं

बतलाया। महात्माओंका कथन है कि, जब तक कषाय–क्रोध, मान, माया और लोभ–और विषयका सेवन किया जाता है तब तक यह आत्मा ही संसार है और विषय–कषायकी निवृत्ति होने पर जब आत्मज्ञान प्रकट हो जाता है और कर्मका नाश हो जाता है तब यह आत्मा ही मोक्ष बनजाता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र भी आत्मा ही है, आत्मा सिवाय और कोई नहीं। ज्ञानादि–स्वरूप यह आत्मा जब तक कर्मयुक्त होता है तब तक शरीरका आश्रय लेता है। मोहका नाश होने पर और आत्मशक्ति–आत्मज्ञान के प्रकट होने पर, आत्मा अपने शुद्ध स्वरूपको जब अच्छी तरह जान लेता है तब वह विशुद्ध ज्ञान, दर्शन और चारित्रमय बनजाता है, ऐसा आत्मज्ञानियोंका कथन है। अज्ञानावस्थामें, अनंत काल पर्यंत जो दुःख उत्पन्न हुआ है और जो अनेक कष्टाचरणों के करने पर भी मिटना मुस्किल है वह आत्मज्ञान द्वारा शीघ्र नष्ट हो जाता है। चित्स्वरूप यह आत्मा, कर्म के संयोग से जब तक देहका आश्रय लिये रहता है तब तक 'शरीरी' कहलाता है और ध्यानरूप अग्नि द्वारा जब कर्मरूप इंधनको जला देता है तब 'निरंजन' बन जाता है। इस सब कथन से यही सिद्ध होता है कि मुक्ति के लिए आत्मज्ञान के सिवाय और कोई रस्ता नहीं, इस लिए इसकी प्राप्ति करना मुमुक्षुका परम कर्तव्य है।

प्रश्न—ऊपर, केवल राजयोग से मोक्ष मिले ऐसा मार्ग बत-

लाया गया है और वह, जैन-सिद्धांत और युक्ति द्वारा सिद्ध है तथा एकांत उत्सर्ग या एकांत अपवाद रूप दुराग्रह से रहित है। परंतु, मुक्तिका कोई ऐसा भी सरल मार्ग है जो सब मतों से मिलता हो और अध्यात्म विद्याकी प्राप्तिमें हेतु हो, कि जिस से परिश्रम वगैर ही जल्दी आत्मज्ञान हो जाय?

उत्तर—सुनो, सिद्धान्त और वेदांतका रहस्य भूत ऐसा मुक्तिका सरल मार्ग बताया जाता है। मुक्तिकी इच्छावाले मनुष्य को अपने दिलमें ऐसा विचार करना चाहिए कि, "यह आत्मा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निरंजन इत्यादि है, ऐसा योगी लोक कहते हैं तो फिर यह मुक्त हो कर किस से और कैसे बंधा हुआ है?" ऐसा विचारने पर मुमुक्षुको मालूम पड़ेगा कि और किसी से नहीं बंधा हुआ है, बंधा हुआ है केवल 'भ्रम' से। 'भ्रम' ही को आदि योगियोने कर्म, मोह, अविद्या, कर्ता, माया, गुण, दैव, मिथ्या, अज्ञान वगैरे वगैरे शब्दो द्वारा समझाया है और उसे जानने वाले सद्योगी भी इन शब्दों को भ्रम ही के अर्थमें काममें लाते हैं। 'भ्रम' ही से आत्मा बंधा हुआ है। एक पदार्थमें दूसरे पदार्थका स्वरूप माननेका नाम भ्रम है। स्त्री, पुत्र, मित्र, माता, पिता, द्रव्य, शरीर, इत्यादि आत्म-भिन्न पदार्थों में—जो इस भवमें सहचर होने पर भी परभवमें साथ नहीं आते—मेरापन की बुद्धि रखना भ्रम है। अर्थात् संसार और शरीरादि रम्य पदार्थोंमें अनुराग रखना और अनिष्ट वस्तुओंमें अप्रीति

रखना उसीका नाम भ्रम-मिथ्याज्ञान है। सम्यग्ज्ञान तो वह है, जिसके प्रकट होनेपर, राग-द्वेषका नाश हो कर सर्वत्र समभाव रक्खा जाता है। आत्मा में 'भ्रम' मिथ्या (असत्) कल्पनाओं से उत्पन्न होता है। जैसे नलिनीशुक और मर्कट भ्रम से बंधा जाता है-पकड़ा जाता है-वैसे आत्मा भी भ्रम से बंधा जाता है। जब यह भ्रम मनमें से निकल जाता है तब आत्मा मुक्त हो जाता है और आत्मा के मुक्त हो जाने पर, आत्मा-परमात्माका अभेद हो जाता है। जब आत्मा और परमात्मा की एकता हो जाती है तब योगी आत्मज्ञानी कहा जाता है। उस को केवलज्ञानी अथवा कर्म-क्रिया-भ्रांतीविमुक्त मुनीश्वर कहते हैं। यह आत्मा मुक्त-भ्रम रहित है ऐसा जब प्रसिद्ध होता है तब सर्वत्र ममत्व रहित हो जाता है। अधिक क्या? मनः-शरीर-सुख-दुःख-ज्ञान-विचार इत्यादि से शून्य हो जाता है। इस प्रकार मुक्त हो जाने पर उसे पुण्य पाप नहीं लगता। मनका जय हो जाने से यह मेरी क्रिया, यह मेरा समय, यह मेरा संग, यह मेरा सुकृत इत्यादि किसी प्रकारका ममत्व उसे नहीं होता। ऐसा आत्मज्ञानी जब तक इस जीव लोकमें शरीरधारी होता है तब वह निष्क्रिय नहीं होता-अर्थात् सूक्ष्म क्रियावाला होता है जब सूक्ष्मक्रिया भी नष्ट हो जाती है अर्थात् शरीरका त्याग होता है तब फिर वह सिद्ध बन जाता है।

प्रश्न—सिद्ध में जब ज्ञान और दर्शन हैं तब फिर उनके द्वारा होने वाली क्रियासे वह सक्रिय क्यों नहीं कहा जाता ?

उत्तर—ज्ञान और दर्शन द्वारा होने वाली क्रिया सिद्धि पाये हुए जीवमें नहीं होती। पूछा जाय कि कैसे नहीं होती ? जवाब दिया जायगा कि, सिद्धि को प्राप्त हुए जीव जब इस लोकमें सशरीर थे तब उनको जब केवलज्ञान और केवलदर्शनकी प्राप्ति हुई थी उसी समय ज्ञान और दर्शन द्वारा होने वाली क्रिया एक ही साथ एक ही दफे हो गई थी और जानने योग्य तथा देखने योग्य ऐसे भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल सम्बन्धी जो जो भाव थे वे सब उसी क्षणमें प्रकट हो गये थे। उसके बाद फिर कोई नया पदार्थ उन के जानने-देखने योग्य नहीं रहता। इस लिये मुक्त जीवोंको, जब तक वे जीवलोकमें सशरीर रहते हैं तब तक कुछ क्रिया रहती है; शरीर के त्यागे बाद, सिद्धावस्थामें सर्व क्रियाओंका अभाव रहता है।

इस प्रकार मुक्ति की प्राप्तिका मुख्य उपाय जो मनोनिरोध बताया गया है उसको प्रवृत्तिमें लानेके लिए सब मुमुक्षुओं को सोद्यम प्रयत्न करना चाहिए और संसारके कठोर पाससे मुक्त हो कर अक्षय और अनंत ऐसे मोक्ष-सुखों को प्राप्त कर सच्चिदानंद बनना चाहिए। शमस्तु।